पंचम अध्याय
हंस और उसके विशेषांक

पंचम अध्याय : हंस और उसके विशेषांक

- विमर्श
- हंस का स्त्री विमर्श
- स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि
- स्त्री विमर्श का स्वरुप
- औरत : उत्तरकथा 1994
- अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य 2000
- स्त्री भूमंडलीकरण : पितृ सत्ता के नये रूप 2001
- स्त्री विमर्श : अगला दौर 2009
- हंस और दलित के बदलते आयाम
- दलित साहित्य की पृष्ठभूमि और स्वरूप
- सत्ता विमर्श और दलित 2004
- दलित साहित्य विशेषांक नवंबर 2019
- दलित साहित्य विशेषांक दिसंबर 2019
- हंस और मुसलमान के बदलते आयाम
- भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य 2003
- कथा जगत की बागी मुस्लिम औरतें
- निष्कर्ष

पंचम अध्याय : हंस और उसके विशेषांक

राजेन्द्र यादव जी ने लगभग तीन दशकों तक हंस में लगातार किसी न किसी समस्या को लेकर विशेषांक के रूप में आधुनिक सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश किया हैं। इसी कारण राजेन्द्र यादव जी को हिंदी साहित्य में स्त्री, दलित, मुसलमान एवं आदिवासी आदि महत्वपूर्ण विषय को हिंदी साहित्य के केन्द्र में लाने का श्रेय दिया जाता है। राजेन्द्र जी लगातार हंस के विशेषांकों के माध्यम से स्त्री, दलित, मुसलमान एवं आदिवासियों के अधिकारों को बढ़ावा देने की बात करते थे। सन 1975 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा महिला दिवस को आधिकारिक मान्यता दी गई। तब से अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस को एक थीम के साथ मनाना शुरू किया। अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस की पहली थीम थी - **'सेलीब्रेटिंग द पास्ट, प्लानिंग फॉर द फ्यूचर'**। जिसमें स्त्री विमर्श की बाते सामने आई। स्त्री विमर्श की चर्चा 'हंस' पत्रिका के माध्यम से सबसे पहले प्रारंभ हुई, और आगे चलकर इस विषय पर काफी बहस हुई जो एक नई साहित्यिक संकल्पना के रूप में विकसित होती जा रही है। दलित विमर्श वर्तमान में साहित्य और वैचारिक विमर्श की मुख्यधारा बन गया है। राजेंद्र जी ने इसके लिए 'हंस' का मंच उपलब्ध ही नहीं कराया बल्कि इन मुद्दों को साहित्य के बहस का विषय बना दिया। हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ कि 'हंस' मुसलमान विमर्श के माध्यम से भारतीय मुस्लिम समाज के हक और उनकी समस्याओं की बात की।

राजेंद्र यादव जी ने हंस के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विषयों पर विशेषांक निकाला है -

1. औरत : उत्तरकथा - 1994
2. हिंदी उपन्यास : एक सदी - 1999
3. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य - 2000
4. स्त्री-भूमंडलीकरण : पितृ-सत्ता के नये रूप - 2001
5. भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य - 2003
6. सत्ता - विमर्श और दलित - 2004

7. ख़बरिया चैनलों की कहानियां - 2007

8. स्त्री विमर्श : अगला दौर - 2009

9. रहस्य-अपराध-वार्ता - 2017

10. नवसंचार के जनाचार - 2018

11. दलित (प्रतिरोध।अधिकार।समता खण्ड-1) - 2019

12. दलित (प्रतिरोध।अधिकार।समता खण्ड -2) – 2019

विमर्श :

'विमर्श' का अर्थ है 'जीवन्त बहस'। साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो इसे 'विचार का गहन विचार' और 'सर्वस्व की प्राप्ति की आकांक्षा' कहा जा सकता है। "विमर्श शब्द का शाब्दिक अर्थ - विचार, विवेचन, परीक्षण, समीक्षा, तर्क"1, विमर्श के लिए अंग्रेजी में "Deliberation, Consideration, Consulation" शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनका अर्थ बहस, संवाद, वार्तालाप, विवेचन या परामर्श और विचारों का आदान-प्रदान होता है। अर्थात किसी भी समस्या या स्थिति को एक कोण से न देखकर भिन्न मानसिकताओं, दृष्टियों, संस्कारों और वैचारिक प्रतिबद्धताओं को समाहार कर देखना। उलट-पलट कर देखना, उसे समग्रता से समझने की कोशिश करना। 'विमर्श' या बहस हाशिए पर छोड़ दी गई सामाजिक इकाइयों के लिए अपनी बात को पूरे दम-खम से कहने के लिए मंच देता है।

हंस और स्त्री के बदलते आयाम :

स्त्री विमर्श का शाब्दिक अर्थ होता है- स्त्री से संबंधित विचार या विवेचन, परामर्श चर्चा। स्त्री विमर्श अर्थात स्त्री के जीवन से जुड़े महत्वपूर्ण पहलुओं की चर्चा, विचार विनिमय के माध्यम से स्त्री के जीवन संघर्ष एवं अस्तित्व पर मंथन करना ही स्त्री विमर्श है।

स्त्री विमर्श की आवश्यकता क्यों ?

भारतीय समाज में हमेशा से ही महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा दूसरे दर्जे का स्थान दिया गया है। उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति शोषित और असहाय से अधिक नहीं देखी गई। महिलाओं को हमेशा और हर क्षेत्र में कमतर ही आंका गया जिसके परिणामस्वरूप उनके पृथक अस्तित्व को कभी भी पहचान नहीं मिल पाई। पति या पिता के बिना महिला के औचित्य, उसकी संपूर्णता के विषय में गंभीरता से चिंतन करना किसी ने जरूरी नहीं समझा।

हंस का स्त्री विमर्श :

चाहे-अनचाहे सबसे अधिक चर्चा 'हंस' ने स्त्री विमर्श पर ही की है। 'हंस' ने स्त्री विमर्श को लेकर -

1. औरत : उत्तरकथा - 1994
2. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य - 2000
3. स्त्री-भूमंडलीकरण : पितृ-सत्ता के नये रूप - 2001
4. स्त्री विमर्श : अगला दौर - 2009

आदि पुस्तकों को राजेंद्र यादव जी ने संपादित किया है। एक ही विषय पर इतनी सामग्री 'हंस' की अपनी विशेषता है। स्त्री विमर्श का स्वरूप, उद्देश्य और उसे व्यापकता देने में हंस की महत्वपूर्ण भूमिका स्पष्ट रूप से सामने आती है।

स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि :

किसी भी सभ्य समाज अथवा संस्कृति की अवस्था का सही आकलन उस समाज में स्त्रियों की स्थिति का आकलन कर के किया जा सकता है। विशेष रूप से पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्रियों की स्थिति सदैव एक-सी नहीं रही। वैदिक युग में स्त्रियों को उच्च शिक्षा पाने का अधिकार था, वे याज्ञिक अनुष्ठानों में पुरुषों की भांति सम्मिलित होती थीं। पुत्री के

रूप में तथा पत्नी के रूप में स्त्री समाज का अभिन्न अंग रही थी लेकिन विधवा स्त्री के प्रति समाज का दृष्टिकोण कालानुसार परिवर्तित होता गया।

जब महिलाओं ने अपनी सामाजिक भूमिका को लेकर सोचना-विचारना आरंभ किया, वहीं से स्त्री आंदोलन, स्त्री विमर्श और स्त्री अस्मिता जैसे संदर्भों पर बहस शुरू हुई।

स्त्री-विमर्श रूढ़ हो चुकी मान्यताओं, परंपराओं के प्रति असंतोष व उससे मुक्ति का स्वर है। पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे नैतिक मापदंडों, मूल्यों व अंतर्विरोधों को समझने व पहचानने की गहरी अंतर्दृष्टि है। साहित्य चिंतन में यह एक नई बहस को जन्म देता है, पितृक प्रतिमानों व सोचने की दृष्टि पर सवालिया निशान लगाता है, आखिर क्यों स्त्रियां अपने मुद्दों, अवस्थाओं, समस्याओं के बारे में नहीं सोच सकती? क्यों उनकी चेतना इतने लम्बे अरसे से अनुकूलित, अनुशासित व नियंत्रित की जाती रही है, क्यों वे साँचों में ढली निर्जीव मूर्तियाँ हैं?

जब भी स्त्री विमर्श की बात होती है तो उसके केंद्र में आज भी मध्यवर्गीय स्त्री का जिक्र होता है। इसकी एक बड़ी वजह साहित्यकारों और विमर्शकारों का खुद मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से जुड़ा होना है।

स्त्री को सामाजिक, जैविक, आर्थिक तथा मानसिक शोषण से मुक्त करके पुरूष के समान स्थान प्रदान करना उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं अस्मिता को समाज में प्रतिष्ठित करना ही स्त्री विमर्श है। भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति अंतर्विरोधों से भरी हुई है। परंपरा से नारी को शक्ति का रूप माना गया है, पर आम बोलचाल में उसे अबला कहा जाता है। आज भी हमारे समाज और साहित्य में स्त्री के प्रति कमोबेश यही अंतर्विरोधी रवैया मौजूद है।

राजनैतिक-सामाजिक स्तर पर नारी अस्मिता की स्थापना और गरिमा के लिए काफी प्रयास हुए। नारी का सुखद भविष्य उसे न्याय समानता और स्वतंत्रता प्रदान किए बिना संभव नहीं हैं। परंपरागत नारियों का बंधन तोड़ना जरूरी था। इसमें मुख्य मुद्दे थे - पुरुष-स्त्री समानता, शिक्षा, विवाह, नौकरी, हर क्षेत्र में राजनैतिक, व्यवसाय आदि में दोनों लिंगों को समान अधिकार हो। आजादी के बाद संविधान में समान अधिकार दिया। जनतंत्र में वोट का समान अधिकार मिला। पर व्यावहारिक रूप से बहुत कुछ छूट गया। शोषण चला, दहेज उत्पीड़न, वेतन का तारतम्य रहा। पर नारी इसमें उठ खड़ी हुई। रामायण-महाभारत में नारी के साथ जो हुआ वह अकल्पनीय है। विलास की साधन बनी। उसे अबला कहा गया। सतीत्व की परीक्षा और सती-असती के मापदंड पुरुष-स्त्री समाज में भिन्न-भिन्न हुए। इस तरह नारी समाज में हाशिए पर आ गई।

हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श को केंद्र में लाने का श्रेय 'हंस' को जाता है। रूपसिंह चन्देल लिखते है- "दलित और नारी विमर्श आज साहित्य और वैचारिक विमर्श की मुख्यधारा बन गया है तो उसका बड़ा श्रेय वरिष्ठ कथाकार राजेंद्र यादव को है। उन्होंने इसके लिए 'हंस' का मंच ही उपलब्ध नहीं करवाया बल्कि इन मुद्दों को साहित्य की बहस बना दिया।"2 स्त्री विमर्श पाश्चात्य हो या भारतीय इसके पीछे स्त्री-मुक्ति की लम्बी परम्परा चली आ रही है।

स्त्री की स्थिति के जिम्मेदार मात्र उसका जन्म ही है। स्त्री जन्म से ही स्त्रीत्व का भाव लेकर नहीं आती बल्कि उसके आस-पास का परिवेश उसे इस मानसिकता में परिवर्तित करता है कि तू स्त्री है, तुझे ऐसे रहना है, यह करना है, यह नहीं करना है आदि आदि।

'स्त्री' न जाने कितने वर्षों से घुटन भरा जीवन जीने को मजबूर है, उस पर होने वाले अत्याचार तथा उससे मुक्त होने की भावना को भी वह हजारों वर्षों से जी रही है। वर्तमान में जो स्त्री विमर्श का स्वरूप दुनिया के सामने है उसके पीछे अनेकोनेक आन्दोलन, सामाजिक संस्थाओं का योगदान है। सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा, महिला संगठनों आदि को लेकर नियम-कानून बनते गये और पारित भी हुए हैं। इससे स्त्री की स्थिति में परिवर्तन तो आया है लेकिन 'स्त्री' वही है अब शोषण का तरीका बदल गया है।

स्त्री विमर्श, स्त्री का पुरूष के विरुद्ध युद्ध नहीं है, बल्कि स्त्री को मानवीयता के नियमों की कसौटी पर अपने व्यक्तित्व को खोजना ही स्त्री विमर्श है, नारीवाद है। मृणाल पांडे कहती है कि "नारीवाद कत्तई स्त्रियों को बृहत्तर समाज से अलग रखकर देखने और हर क्षेत्र में पुरुषों के खिलाफ उन्हें प्रोत्साहित करने का दर्शन नहीं है। यह तो समग्र दृष्टिकोण है जो संवेदनशील नागरिकों में पहले शोषित और प्रवंचित स्त्रियों की स्थिति के प्रति सहानुभूति और मानवीय दृष्टिकोण विकसित करके उसके उजास में उन्हें पूरे समाज के शोषित और प्रवंचित तबकों को समझने की क्षमता देता है।"3

स्त्री विमर्श एक विचारधारा है। जिसने सदियों से चली आ रही पितृ सत्ता को चुनौती दी और नारी की मुक्ति का मार्ग खोला। यह एक ऐसी विचारधारा है जो समाज, परिवार और कार्य जगत में स्त्री के शोषण को व्याख्यायित करती है। पुरूष आधिपत्य और पुरूष दमन के खिलाफ आवाज़ उठाती है। स्त्री विमर्श बहुआयामी है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री की स्थिति की जाँच पड़ताल करना स्त्री की दुर्दशा को समझना और व्यक्त करना ही स्त्री विमर्श है।

स्त्री विमर्श का स्वरूप :

स्त्री विमर्श पश्चिम की देन है। 1960-70 के दशक में पश्चिम के नारीवादियों का प्रिय नारा था 'सिस्टरहुड इज पॉवरफुल' निश्चित ही इस नारे ने एक स्त्री को दूसरी स्त्री से जोड़ा। "पश्चिम में 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में दो पुरुष सामने आए - विलियम थॉमस और

जॉन स्टुअर्ट मिल - जिन्होंने स्त्री-अधिकारों की लड़ाई में न केवल उसका साथ दिया बल्कि बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। विलियम थॉमस ने 'अपील ऑफ वन हॉफ ऑफ द ह्यूमन रेस' (1825) में विवाहित स्त्रियों की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डाला। जॉन स्टुअर्ट मिल ने 'द सब्जेक्शन ऑफ वुमन' (1869) में बताया कि स्त्रियों की अधीनता न केवल गलत है बल्कि सम्पूर्ण मानव समुदाय की उन्नति में बाधक है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने 1806-1873 में स्त्री अस्मिता तथा स्त्री अधिकारों की मांग के लिए प्रथम आंदोलन किया। इसके बाद (1929) में वर्जिनिया वुल्फ ने 'Room of One's Own' लिखकर स्त्री के स्थिति पर विचार किया। सिमोन द बोउवार ने (1949) में 'The Second Sex' पुस्तक के द्वारा स्त्री के भाव विश्व, उसकी अस्मिता तथा चेतना पर प्रकाश डाल कर स्त्री उपेक्षिता की दयनीय स्थिति पर विचार किया। कैथेडिन रोगर्स ने 'Thinking of Women' लिखकर इस दिशा में एक और कदम उठाया। कैट मिलेट (1970) में 'Sexual Politics' लिखकर एक बार फिर मर्दवाद की यौन राजनीति का विरोध किया। मेरी वोलस्टोल क्रॉफ्ट - 'Vindication of the rights of Women' लिखकर स्त्री अधिकारों की चर्चा की। पश्चिम में विगत तीन सौ वर्षों से नारी की अस्मिता, अधिकार तथा अस्तित्व की पहचान की लड़ाई चल रही है। परिणाम स्वरूप आज स्त्री की स्वतंत्रता तथा चेतना का विचार हो रहा है। पश्चिम में नारीवादी आंदोलन की लंबी परंपरा है। 19वीं सदी में मताधिकार आंदोलन (Suffragist Movement) हुआ। हिंदुस्तान में मताधिकार आंदोलन 1918 में हुआ किंतु इसके लिए स्त्री को आंदोलन करना नहीं पड़ा।"4

भारतीय पक्ष को देखे तो आधुनिक युग में स्त्री सरोकारों की सारी लड़ाइयां एक मुहिम के रूप में नवजागरण काल के पुरुष समाज सुधारकों द्वारा शुरू की गई। राजा राममोहन राय, मृत्युंजय विद्यालंकार, ज्योतिबा फुले, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, बेहराम मलबारी, महादेव रानाडे आदि ने स्त्रियों से जुड़े लगभग हर मुद्दे को उठाया और स्त्रियों को समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाने का प्रयास किया। ऐसा भी नहीं है कि स्त्री-अधिकारों के लिए तत्कालीन लड़ाई में स्त्रियां मूकदर्शक बनकर खड़ी थी और उनकी सारी लड़ाइयां पुरुष ही लड़ रहे थे। हमारे पास नवजागरण कालीन ऐसी स्त्री नामों की

लंबी सूची है जो उस समय की तमाम सीमाओं के बावजूद पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था के व्यूह को तोड़कर न केवल अपनी लड़ाई लड़ती है बल्कि पूरी स्त्री जाति के लिए संघर्ष करती हैं। इन नामों में रमाबाई रानाडे, पंडिता रमाबाई सरस्वती, नवाब बेगम फैजुनेसा चौधुरानी, सावित्रीबाई फुले, सरोजिनी नायडू, ज्योतिर्मयी देवी आदि का नाम प्रमुख है।

स्त्रीवादी लेखिका सिमोन द बोउवार का एक बेहद प्रसिद्ध कथन है- "स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।"5 उनके अनुसार परिवार और समाज के द्वारा ही एक बच्चे में स्त्री होने के गुण भरे जाते हैं। औरत को औरत होना सिखाया जाता है। औरत बनी रहने के लिए अनुकूल बनाया जाता है।

स्त्री के परंपरागत रूप को ही आज साहित्य, सिनेमा, नाटक, आदि में आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। स्त्री की जो परंपरागत छवि है, उसे समाज नहीं तोड़ना चाहता, यही कारण है कि स्त्री के प्रति चली आ रही मानसिकता और वैचारिकता में परिवर्तन नहीं हो रहा है। परंपरागत बंधन उसे 'मानव' के रूप में प्रतिष्ठित नहीं होने देते और स्त्री विमर्श उसे 'मानव' के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है।

स्त्री विमर्श को लेकर राजेंद्र यादव जी कहते है कि- "स्त्री दलित की तरह समाज के बाहर तो नहीं लेकिन भीतर होते हुए भी साथ नहीं। वह पिता-पुत्र की आश्रिता है। यह घोर अमानवीय लगता है। इसी की विभिन्न समस्याओं पर खुली बहस को हम स्त्री विमर्श कहते हैं। जन्म के आधार पर किसी मनुष्य की सामाजिक हैसियत नहीं तय की जाती चाहिए या उसे पुरुष मालिक की सत्ता का गुलाम नहीं बनना चाहिए। यही स्त्री विमर्श है।"6

सिमोन ने कहा है कि आज की दुनिया में औरत का सही रूप वस्तुतः क्या है? वस्तुतः उसका कौन सा दर्जा होना चाहिए? 1999 में उठाये गये सिमोन के सवालों का जवाब सभी स्त्री मुक्ति विचारधारा को स्वीकार करने वाले ढूँढ रहे हैं।

रोहिणी अग्रवाल की यह मान्यता गौरतलब है, 'स्त्री-विमर्श एक दृष्टि है, जो परंपरा के दबाव, संस्कार एवं पूर्वाग्रह से मुक्त होकर व्यक्ति की पहचान लिंग में नहीं, मनुष्य में प्रस्थापित करने की ऊर्ध्वमुखी चेतना देती है। नारी को स्वयं की पहचान कराना नारी

विमर्श है। स्त्री पैदा नहीं होती बनायी जाती है और बनाने वाला होता है- परिवार, शिक्षा प्रणाली, कानून, धर्म, कलाएँ, मीडिया।'

राजेंद्र जी का मानना है कि स्त्री-विमर्श का सही स्वरूप दुनिया के सामने तभी आएगा जब स्त्री बिना किसी दबाव लिहाज के अपने बारे में अपना निर्णय ले सकेगी। अपने साथ उसे पुरुष को भी मुक्त करना होगा। अभी तो स्थिति यह है कि स्त्री को पहले पुरूष अपनी संपत्ति की तरह इस्तेमाल करता था और अब मुक्ति का भ्रम देकर बाजार उसकी नुमाइश कर रहा है। मगर उसका संघर्ष सिर्फ बाजार ही नहीं है, उसका संघर्ष अपने जैसे दूसरे मुक्ति-संघर्षों के साथ मिलकर ही प्रभावी बन सकता है। उन्हें यह समझना जरूरी है कि दलितों और दूसरे हाशियाकृत लोगों के साथ मिलकर ही वे अपना भविष्य तय कर सकती है।

न्यू चैनल, समाचार पत्रों, पत्रिकाओं में महिलाओं के साथ हो रहे अन्याय, अत्याचार, अपहरण, बलात्कार की खबरों ने समाज के बीभत्स एवं कुरूप चेहरे को सामने लाकर खड़ा किया है। समझ में नहीं आता है कि जिसकी कोख से पुरुष का जन्म होता है वही सामर्थ्यवान होकर उसका ही दुश्मन क्यों वह जाता है? अपनों से ही यातनाएं सहने वाली स्त्रियां अपने अस्तित्व की रक्षा एवं जीने के अधिकार के लिए कहाँ जाएं? इसी प्रश्न का उत्तर ढूंढने की प्रक्रिया ही स्त्री विमर्श है।

बाजारवाद एवं भूमंडलीकरण के खतरे वैश्विक स्तर पर राष्ट्रों, समाजों एवं मनुष्य जाति के लिए संकटों की श्रृंखला लेकर आएं हैं। राष्ट्रों में आर्थिक विषमताएं, असमानता, शोषण एवं वंचितों को देखा जा सकता है। इन्हीं परिस्थितियों का प्रभाव हिंदी साहित्य के स्त्री विमर्श को भी घेरे जा रहा है। भूमंडलीकरण के इस दौर में महिला को सौन्दर्य एवं देह तक सीमित करने की पूंजीवादी व्यवस्था ने हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श को मात्र देहवाद तक सीमित किया है। और व्यभिचार की छूट को स्वातंत्र्य का पर्याय समझ लिया है। जो बेहद ही भ्रामक एवं हास्यास्पद लगता है। सेक्स मुक्ति को स्त्री मुक्ति का हिस्सा मानकर पूरे नारी आंदोलन को कमजोर एवं भटकने के लिए विवश किया है। डॉ. नमिता सिंह कहती हैं कि- "हिन्दी साहित्य में देह की स्वतंत्रता के नाम पर निश्चित रूप से व्यभिचार

को नैतिकता का जामा पहनाने का प्रयास किया गया है। साहित्य तो चलो मान लिया कितने लोग पढ़ते हैं, लेकिन इस अवधारणा ने सामाजिक स्तर पर व्यभिचार का समर्थन किया है और देह को भोगने और बेचने को नारी मुक्ति जैसे आंदोलन से जोड़कर सामाजिक विकास की प्रक्रिया को भ्रष्ट किया है तथा स्त्री को बाजारवाद के अभियान में शामिल कर लिया है।"7 इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि स्त्री की देह ही तो है जो स्त्री की अपनी है - उस पर भी उसका अधिकार नहीं है। वह कैसे सवारें, सजे, भोगे ये निर्णय भी उसके पिता, भाई, पति, बेटा या परिवार लेता हैं। यहाँ तक कि राह चलते राहगीर भी उसकी देह पर अपना हक जमाने की कोशिश करते हैं। जिस मातृत्व के सिवा उसे भारतीय संस्कृति में सार्थकता नहीं मिलती, वह पूर्णत्व को प्राप्त नहीं करती। यही उसे गौरान्वित करने वाला गुण सबसे बड़ा कलंक बन जाता है यदि वह स्वेच्छा से गर्भधारण कर ले। किसी पुरुष से सम्पर्क स्त्री के लिए व्यभिचार है तो किसी पुरुष का अनेक स्त्रियों से संबंध को क्या कहेंगे? क्षमा शर्मा लिखती हैं कि- "यदि वस्त्रहीन देह स्त्रियों के लिए नग्नता है तो वह पुरुष के लिए पौरुष का प्रतीक कैसे हैं? चूँकि स्त्री के लिए जीवित रहने के सारे नियम पुरुषों ने ही बनाए हैं इसलिए सारी मर्यादाओं का बोझ औरतों के ऊपर डाल दिया है और सारी स्वतंत्रता पुरुषों ने अपने लिए रख ली है।"8

आर्थिक आजादी ने औरतों के ख़यालों को मुक्त उड़ान भरने का मौका तो दिया है किन्तु बाज़ार ने उसे चंगुल में फंसाया है। स्त्री ने कहा कि 'मेरा शरीर मेरा है, इसको मैं कितना दिखाऊँ, कितना न दिखाऊँ, इसका उपयोग करूँ या न करूँ यह मेरी स्वतंत्रता है।' ये मुक्ति की इस चेतना की घोषणा थी कि पुरुष या समाज की यह इज़ारेदारी नहीं है कि स्त्री को नियंत्रित करें, दबाएं, कुचले। स्त्री की इसी स्वतंत्रता को बाज़ार ने लपक लिया। उसने कहा ठीक है, तुम मुक्त हो, दिखाओं अपनी देह, हम उसी का पैसा वसूल करेंगे। हम तुम्हारे शरीर के साथ साबुन और पावडर बेचेंगे। विश्व सुन्दरी प्रतियोगिता करेंगे। इस तरह बाजार के चंगुल में फंस गयी स्त्री।

औरत ने मर्द को जन्म दिया, मर्द ने उसे बाजार दिया। जब वह बाहर जाती है तो स्वतंत्रता खतरनाक बन जाती है। लौटती है तो गुलामी बाँहें पसारे राह देखती है। इसी बीच

द्वन्द्व स्थिति में प्रेम और सहयोग से एक दूसरे के दुःख-सुख में समान रूप से भागीदार और मद्दगार सिद्ध होना समाज के विकास में भी सहायक हो सकता है। पुरुष और स्त्री में मूलभूत अन्तर जैविक और आर्थिक है। इसी कारण से स्त्री पुरूष के सामने अक्सर पराजित होती रहती है। जबकि स्त्री विमर्श में यह अवधारणा अवश्य विकसित हुई है कि स्त्री पुरुष से किसी भी अर्थ में कमतर नहीं है। नंद चतुर्वेदी स्त्री मुक्ति आन्दोलन को स्पष्ट करते हुए लिखते है कि- "शुचिता की सारी चिंता स्त्री केंद्रित है। यौन-शुचिता के सारे आग्रह स्त्री देह के संदर्भ में ही हैं। अपने शरीर के लिए लड़ती-झगड़ती स्त्री अपने देह-समर में ही पराजित होती है। तब भी प्राकृत न्याय और नैतिक दृष्टि से अपने देह की स्वामिनी स्त्री ही है। इसमें मुझे कोई ऐतराज नहीं है यदि यह इस दावे के साथ दूसरा शक्ति केंद्र भी बनती है।"9 मानता हूँ कि भूमंडलीकरण ने स्त्री को मॉडल बना दिया है लेकिन इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता है कि भूमंडलीकरण ने उसे 'पॉवर वूमेन' बना दिया है। बाजार, पूंजी और संचार-क्रांति की शक्ति ने स्त्री का संसार बदल दिया है। भूमंडलीकरण ने स्त्री को पहले से ज्यादा सशक्त बनाया है, अब वो अपना हित देखकर वोट डालती है तथा राजनीति में भागीदारी करती है। आज स्त्री के पास पहले से ज्यादा निजी आमदनी है और वो आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो रही हैं।

आजतक स्त्री विमर्श में काम करने वाली स्त्रियों को लेकर कुछ लिखा गया है। समान काम के लिए, समान वेतन के बावजूद पुरुष वर्चस्ववादी दृष्टिकोण में बहुत बदलाव नहीं आया है। उत्तराधिकार और सम्पत्ति का अधिकार कागजों तक ही सीमित हैं। व्यवहार में अभी बहुत कुछ पुरुष की मुट्ठी में बंद है। मध्यम वर्ग की पढ़ी-लिखी स्त्री अपेक्षाकृत अधिक समझौता कर सकती है। कुछ मामलों में आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने के बावजूद उसकी हैसियत घर-परिवार में एक नौकरानी से अधिक नहीं है। बस यह कह सकते हैं कि हम एक संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहे हैं।

औरत : उत्तरकथा – 1994

आज से लगभग सत्ताईस वर्ष पहले दिसंबर (1994) हंस ने 'औरत : उत्तरकथा' नाम से विशेषांक निकाला था। जो स्त्री-विमर्श पर केंद्रित हिंदी साहित्य का पहला विशेषांक था। बीसवीं सदी के अंतिम दशक में लगने लगा था कि समाज व साहित्य में औरत की कथा अब वह नहीं रह गई है जो सौ-डेढ़ सौ सालों से कही जाती रही है। क्योंकि उसे हम कहते रहे हैं - उसकी ओर से। 'आपबीती' खण्ड के अंतर्गत जानी-अनजानी महिला लेखिकाओं की आत्मकथा के अंश सम्मिलित है जिसमें 'मेरी कहानी- नटी निवोदिनी', 'पहली बार मैं - दिलीप कौर टिवाणा', 'तेरहवीं मंजिल से - कुसुम अंसल', 'मैं खाक में मिल जाना चाहती हूं - मलिका अमरशेख', 'आत्मकथा नहीं, आत्मकथ्य - मृदुला गर्ग'। सार्वजनिक जीवन से जुड़ी और निजी स्तर पर अपेक्षाकृत मुक्त और रूढ़िरहित जिंदगी जी पाने की हिम्मत की। 'अपनी अपनी बात' शीर्षक के दो खंड है। पहले खंड में पुरुष लेखकों की रचना और दूसरे खंड में स्त्री लेखिकाओं की रचनाएं हैं। दोनों ही खंड में स्त्री की बात की गई हैं। विशेषांक के अंतिम खंड 'पुनश्च' में कई कहानियों को रखा गया है जो स्त्री के विशेष सन्दर्भ की है।

इक्कीसवीं सदी में स्त्री की स्थिति समाज और साहित्य में वह नहीं रह गई हैं जो पिछले सदी में कही जाती रही है, आज की स्त्री अपनी बात स्वयं कह रही है। 'मित्रों मरजानी' (कृष्णा सोबती)' 'आपका बंटी' (मन्नू भंडारी), 'रुकोगी नहीं राधिका' (उषा प्रियंवदा) और 'बेघर' (ममता कालिया) ने अपनी समस्याओं के समाधान खुद ढूंढने का सिलसिला आरंभ किया। उसी से प्रेरणा लेकर स्वयं को सामान्य मानने वाली स्त्री में भी अभिव्यक्ति की ललक जाग उठी।

अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य – 2000

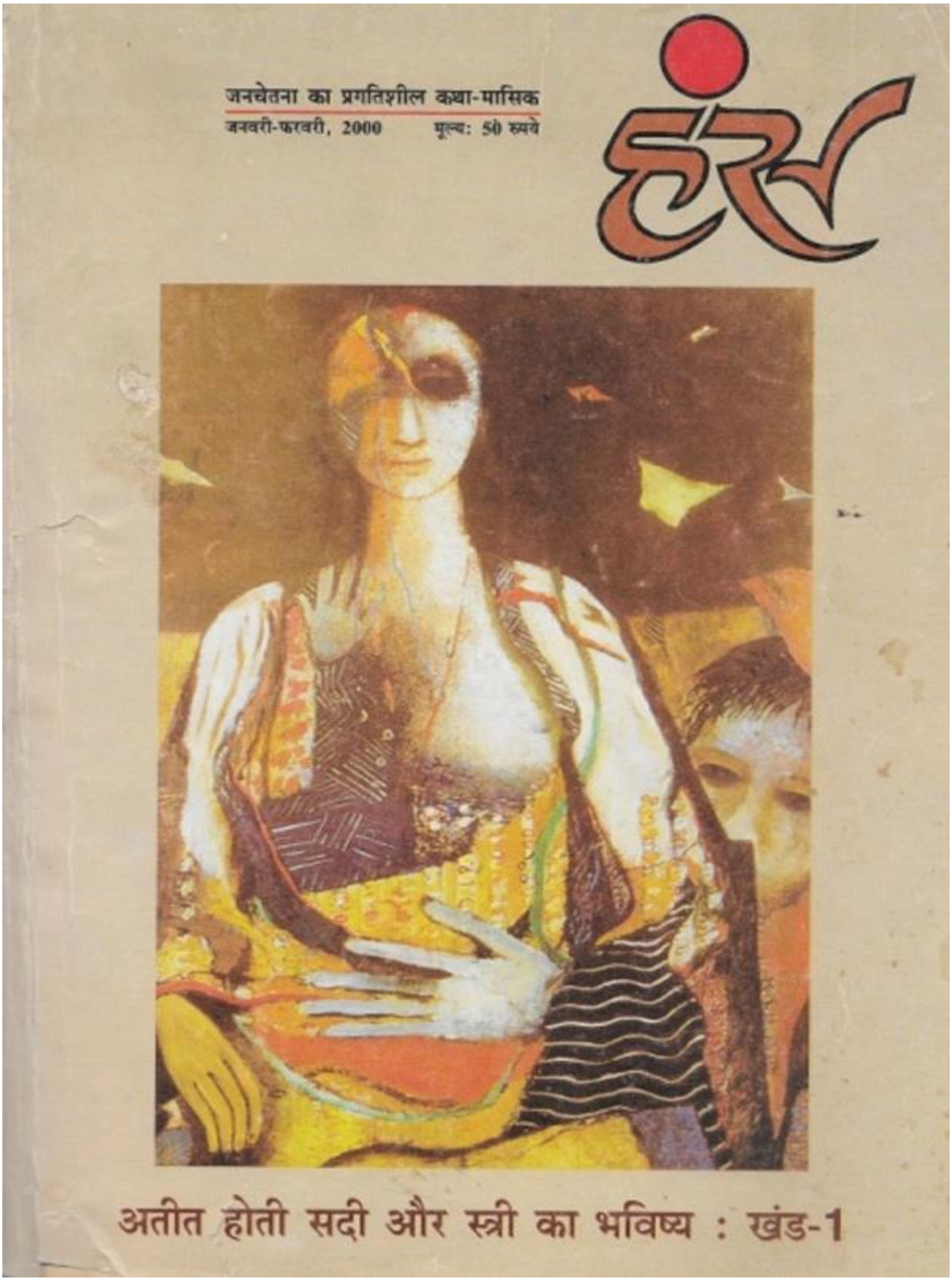

बीती सदी की एक सतत-सुदीर्घ जद्दोजहद के दौरान स्त्रियों ने अपने हार्दिक मनोभावों को अभिव्यक्त करने की जो बेचैन कोशिशें की है, उनसे गुलामी को स्थायित्व देने वाली नाना प्रकार की प्रवृत्तियां और शक्तियाँ बेपर्दा होती हैं। पहली बार स्त्रियाँ उन समस्याओं पर उंगली रखने खुद सामने आई हैं जो सेक्स के आधार पर अलगाए जाने से जन्म लेती हैं। पुस्तक के शुरुआती खण्ड में शामिल आत्मकथ्यों पर नजर डालें तो पाएँगे कि वहाँ स्त्रियां अपनी आकांक्षाओं-स्वप्नों और संघर्षों की अक्कासी के लिए भाषा को एक नया हथियार बनाए मौजूद हैं - पर्दे और गुमनामियत से बाहर पुरुषों की दया-सहानुभूति से परे। पितृ-सत्ता के षड़यंत्र और स्त्री छवि खंडों में दोनों दृष्टिकोणों को साथ-साथ रखकर जटिलता को उसके पूरेपन में पकड़ने की कोशिशें की गई हैं। यह सारा उद्यम इस एक संकल्प के इर्द-गिर्द है कि नई सदी में भारतीय समाज नए मूल्यों, नए सम्बन्धों, नए व्यवहार, नई मानसिकता की ओर अग्रसर होगा। आने वाली सदी में स्त्रियों की मुक्ति के सवालों के जवाब ही देश में आधुनिकता और विकास के चरित्र को तय करेंगे।

हंस ने 'अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य' विशेषांक फरवरी 2000 में निकाला था। इस विशेषांक की संपादक अर्चना वर्मा जी थी। यह विशेषांक कई खण्डों में विभक्त है जिसमें संपादकीय, जनम-पत्री, संदर्भ और विचार, वंश-परंपरा, पितृ-सत्ता के षड़्यंत्र और स्त्री छबि, कहानियां, कविताएं और पुस्तक जगत। संपादकीय 'स्त्री का भविष्य' शीर्षक से लिखा गया है जिसमें 'अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य' का संदर्भ है। अतीत सदी ने अपने आरंभ से ही आरम्भ करके सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण, लगभग युगान्तरधर्मी जो परिवर्तन घटित किया वह स्त्री की दशा में है। कौन सी स्त्री की? मूल्य, मर्यादा, शील इत्यादि को लेकर अपने यहां सब टंटा मध्यवर्ग का ही है। सवा सौ साल पहले का श्रद्धाराम फिल्लौरी का उपन्यास 'भाग्यवती' एक मध्यमवर्गीय परिवार में पढ़ी-लिखी बहू के आ-पहुंचने से होने वाले परिवर्तन की कहानी कहता है। उसके आने से पहले परिवार की दशा दारुण है। पुरुष व्यापार में व्यस्त हैं और स्त्रियां पर्दानशीन। घर में आगतों-अभ्यागतों का हाल-चाल पूछने से लेकर सौदा-सुल्फ़ लाने तक कुछ भी करने-धरने वाला नौकरों के सिवा कोई नहीं और बहुओं का एकमात्र काम है एक दूसरे की निंदा

और आपस में लड़ाई। नौकरों ने जमकर लूट मचा रखी है। साग-सब्जी, इक्का-तांगा, राशन-पानी, फूल-मिठाई सबका दाम कम से कम भी कई गुना से अधिक और घर में किसी को इल्म तक नहीं कि असली दर है क्या। कमाया-धमाया सब घर चलाने में स्वाहा। 'भाग्यवती' के लगभग बीस पच्चीस वर्ष बाद बंग महिला की 'दुलाई वाली' में भी दिखता है कि मध्यवर्गीय पर्दानशीनें तो रेल के डिब्बे से खुद उतर आने के लायक भी नहीं जबकि मेहनतकश मजदूर औरतें आराम से गाड़ी पकड़ती, चढ़ती उतरती एक स्टेशन से दूसरे तक जाती है। और गाड़ी के बारे में न जानने वालियों की हंसी भी उड़ाती हैं। यानी वे तब भी वहीं थी जहां आज है। तो जो भी हुआ, इसी मध्यवर्गीय औरत का हुआ पर कौन-सा मध्यवर्ग? भारतीय संदर्भों में जातीय विभाजनों के कारण एक ही आर्थिक वर्ग के भीतर मौजूद अनेक सांस्कृतिक सामाजिक वर्ग हैं, उनकी अलग-अलग जातीय जीवन पद्धतियां हैं, अलग-अलग प्रगति के पैमाने हैं। शपथपूर्वक तो शायद आज भी नहीं कहा जा सकता कि 'भाग्यवती' के जैसा परिवार अब कहीं नहीं है कि जो जहां पर जैसा था, उस जगह से आगे के कदम उसने उठाये ही हैं। छलांग भले ही न लगाई हो। अलग-अलग पैमानों पर सही, प्रगति हुई ही है। कैसी प्रगति? केवल सजावटी, बनावटी, दिखावटी या सचमुच की?

अर्चना जी लिखती है कि "माल हर तरह का मौजूद है और पैमाने यहां भी अलग-अलग हैं, इस उलझन के साथ कि सचमुच की प्रगति क्या होती है। बल्कि यहां तो वे इतने अलग-अलग हैं कि पूरी तरह से निजी और वैयक्तिक कहे जा सकते हैं। यह बात दीगर है कि ये अकेली निजताएं और त्रुटित वैयक्तिकताएं नहीं, उनके समुच्चय हैं और कुछ शामिलाती पैमानों का सृजन करते हैं। इन पैमानों के एक छोर पर अगर 'भाग्यवती' के परिवार की बहुएं और स्वयं भाग्यवती है तो सदी के अंत में दूसरे छोर पर आ-खड़ी वह स्त्री जिसकी स्वाधीनता के प्रमाण आस-पास चारों ओर बिखरे-ही-बिखरे पड़े हैं -- आर्थिक आत्मनिर्भरता, व्यावसायिक उपलब्धियां, सूचना संचार माध्यमों पर स्त्री छवियों का आधिपत्य, सौंदर्य उद्योग का चमकीला संसार और स्वेच्छा से संबंधों का चुनाव। लेकिन यह पैमाने का अंतिम छोर है- विशिष्ट वर्ग की विशिष्ट स्त्री के लिए सुरक्षित।"10

इसी विशेषांक में मन्नू भंडारी जी की लिखित कहानी 'एक कहानी यह भी' में मन्नू जी ने अपने जीवन के महत्वपूर्ण तथ्यों को उभारा है। इसमें मन्नू जी अपनी बात बहुत प्रभावशाली ढंग से दर्शायी हैं कि बालिकाओं को किस तरह की पाबंदियों का सामना करना पड़ता है अपने पिता से वैचारिक मतभेद का भी उल्लेख किया है। स्त्री घर हो या बाहर उसमें सबसे पहले अपनी जिम्मेदारी निभाने की नियति होती है। मन्नू भंडारी जी ने लेखन को दूसरा स्थान दिया जबकि राजेन्द्र यादव जी ने लेखन को पहला स्थान। यही बात यहाँ स्पष्ट होती है कि औरत 'मेरे' में और पुरूष 'मैं' में जीता है। मन्नू जी कहती है कि "बेटी और घर (जिसकी पूरी-पूरी जिम्मेदारी मेरे ऊपर थी) के साथ नौकरी (जो अपनी जिम्मेदारी को निभाने के लिए अनिवार्य थी) के बीच में से ही लिखने के लिए समय और सुविधा जुटानी पड़ती थी और मैंने जो कुछ भी लिखा, इन सबके बीच ही लिखा, इनकी कीमत पर कभी नहीं लिखा। लेकिन पहले सभी स्तर पर संकट थे, कष्ट थे, समस्याएं थीं, नसों को चटका देने वाले आघात थे, पर उनके साथ लगातार लिखना भी था.... जो भी, जैसा भी।"11

इसी खण्ड में उर्मिला पवार जी ने अपनी कहानी 'मेरे चार दुश्मन' में अपनी जिंदगी के विभिन्न पहलुओं को पाठकों के सामने रखा है। इस कहानी में उर्मिला जी की यात्रा बचपन से शुरू होकर स्कूल, उसी समय पिता जी की मृत्यु। पिता जी की मृत्यु के बाद परिवार चलाने की जिम्मेदारी माँ के ऊपर आ गई। माँ टोकरी बना-बना कर बेचती और उससे जो पैसा मिलता उससे घर चलता। स्कूल में हेरलेकर गुरू जी मुझसे ही स्कूल साफ करवाते गोबर फेकवाते थोड़ी सी गलती पर खूब पीटते। उसके बाद से मेरी जिंदगी को एक दिशा मिली और आगे भी तमाम तरह की समस्याओं का सामना किया है। "जब मैं छोटी थी, सारे बूढ़े लोगों को अपना दुश्मन समझती थी। शायद सभी छोटे बच्चे ऐसा समझते होंगे, लेकिन मेरे दुश्मन बिल्कुल दूसरे किस्म के थे। मेरे चार बड़े शत्रु थे- शत्रु नंबर एक- मेरे पिता! नंबर दो- मेरी मां, नंबर तीन- मेरा भाई और चौथे नंबर पर थे- मेरे शिक्षक हेरलेकर गुरुजी! इन चारों शत्रुओं ने मेरे जीवन की नींव गढ़ी...और आज मैं जो भी हूं, इन्ही चारों की बदौलत हूँ!"12

इसी खण्ड में जयन्ती जी ने अपनी कहानी 'शक्लों वाली ज़िन्दगी : अकेली स्त्री का सच' में एक अकेली स्त्री के संघर्ष, उसके अकेले रहने पर जिंदगी में आने वाले उतार चढ़ाव के साथ दूसरी अकेली रह रही स्त्रियों की ज़िंदगी के बारे में गहराई से वर्णन किया गया है। जयन्ती जी की ज़िंदगी किन-किन हालातों से गुजरती है उसका वर्णन किया है। उन्होंने अपनी स्वतंत्रता/स्त्री की स्वतंत्रता के लिए क्या-क्या करना पड़ता है और किन तरह से अपनो का साथ मिलता है नहीं मिलता है का बखूबी वर्णन किया है। वे कहती हैं कि "बहुत लंबा सफर तय किया है। कभी मैं सोचती हूं पाषाण युग में अगर एक स्त्री अकेली रह रही होती, तो क्या होता? अकेली शिकार पर जाती, जानवरों का मुकाबला करती --नहीं, तब स्त्रियों को इसकी जरूरत ही नहीं थी। क्या सीता, द्रौपदी, मीराबाई कभी किसी के मन में ख्याल नहीं आया होगा कि वे अपनी अलग दुनिया बना सकती हैं? आगे क्या होगा? अब तक मैं जितनी अकेली स्त्रियों से मिली हूं, सत्तर प्रतिशत ने जानबूझ, सोच-समझकर यह निर्णय नहीं लिया। बस, परिस्थितियां ऐसी बनती चली गयीं, जहां अकेले रहने का विकल्प ही सबसे सही था। मेरे साथ भी ऐसा ही है। पहले की अपेक्षा अब निर्णय लेना आसान हो गया है। अब लगता है कम से कम महानगरों में हमारी कौम को स्वीकृति मिल गयी है। न पहले की तरह भृकुटियां उठती हैं, न असामान्य करार दिया जाता है। मुझसे नयी पीढ़ी की लड़कियां पूछती हैं, क्या हम भी अकेली रह सकती हैं, हमें क्या करना चाहिए? विवाह स्त्रियों को रचनात्मक रहने नहीं देता। मैं कहती हूं निर्णय तुम्हारा है। जिंदगी एक है। दोनों निर्णयों के अपने-अपने फायदे हैं। किसी को गलत सही कहने वाली मैं खुदा नहीं हूं। जब मैं अपने लिए खुदा नहीं बन पायी, तो दूसरों के लिए क्या बनूंगी?"13

जनम-पत्री खण्ड की आखिरी कहानी स्नेहमयी चौधरी की कहानी 'ऊपर टंगी लाश का आत्मकथ्य' में समाज और मर्यादा के नाम पर किस तरह पुरूष स्त्री पर हावी हो जाता है और जीवित स्त्री को इतना प्रताड़ित करता है कि वह जिन्दा लाश बन जाती है। वह पुरूष/पति के प्रताड़ना से इतनी प्रताड़ित होती है कि जहर खा लेती है। फिरभी उसका अंत नहीं होता। "रोते-राते-रोते आंखों की रोशनी ही खत्म हो गई तो थकी उंगलियों से

अंधी हो गई आंखों से मौन हो गए होठों से क्या कह पाऊंगी, पता नहीं, कान धीरे-धीरे कुछ न सुनने के अभ्यस्त हो गए है। फिर भी कहानी का अंत नहीं आता। शरीर का ढांचा जो बचा है। जो जहर खाकर भी खत्म नहीं हुआ। अंदर की मौत कभी-कभी धुंधली यादों से कौंध जाती है। कौंध से अंधेरे में कोई व्यवस्थित चित्र नहीं बनता। अब क्या करूं।

अपने से पूछने पर कोई प्रत्युत्तर भी नहीं आता। दीवारें तो अब कुछ बोलती नहीं, पंखे का घूमना दिखता नहीं। एक गरम हवा सर पर बालों को उड़ाती रहती है। जो सहेजे नहीं जाते। आगे कुछ दिखता ही नहीं, तो क्या कहना किससे कहना? किससे सुनना? एक विराट खोखली सूनी सराय में पड़ी हूँ -- जब तक शरीर का अंत नहीं होता।"14 आतुर प्रतीक्षा के कारण वह अक्सर दूर दिखने लगा है -- क्षितिज तक पहुँचने का प्रयत्न जैसा लगने लगा है। कही दूर पर एक यही क्षितिज दिखता है जो निकट लगते हुए भी इतना निकट नहीं है कि लपककर मैं पकड़ लू। किसी ने पकड़ा है क्या क्षितिज?

हंस के इसी विशेषांक में 'संदर्भ और विचार' खण्ड में प्रभा खेतान जी ने 'स्त्री विमर्श: इतिहास में अपनी जगह' में स्त्री विमर्श पर प्राचीन से लेकर आधुनिक काल तक का वर्णन किया है - "स्त्री, उसका जीवन और उस जीवन की समस्याएं। प्रभा खेतान जी कहती है कि "नारीवाद का सही उद्देश्य दलन के अनुभवों की अभिव्यक्ति ही है।"15 आगे अपनी बातों पर जोर देकर कहती है कि - "नारीवाद परम्परागत ज्ञान और दर्शन को चुनौती देता है। ऐतिहासिक रूप से हम पुरुष प्रधान समाज में रहते आये हैं, जहां स्त्री ज्ञाता नहीं बल्कि ज्ञान की विषय-वस्तु है। हम जिसे यथार्थपरक ज्ञान या वस्तुपरक ज्ञान कहते हैं वास्तव में वह पुरुषों द्वारा निर्मित एवं उत्पादित ज्ञान है। इसी ज्ञान को पुरुष सत्ता ने समाज के केंद्र में अधिष्ठित किया। इसके विपरीत नारीवादी सिद्धांत स्त्री-केंद्रित ज्ञान की चर्चा करता है।"16 स्त्री का दलन एवं उत्पीड़न, वह चाहे भावनात्मक स्तर पर हो या आर्थिक स्तर पर, परिवार हो या समाज पितृसत्ता अब तक इसे बचाए हुए हैं। कुछ लोग हैं, कुछ संस्थाएं, व्यवस्था का एक हिस्सा, कुछ उन्नत राष्ट्र, जिनकी मिली भगत है। नारीवाद को पर्त दर पर्त झूठ और दलन की इन तहों को उधेड़ना है। और यह भी सच है कि जो कुछ भी घट रहा है वह एक प्रक्रिया का अंश है - क्या है वह प्रक्रिया? और अधिक मनुष्य होना। हमें उस

प्रक्रिया पर ध्यान देना है जो सृजनात्मक समाज को निर्मित करती है। अन्यथा हम सभी एक-दूसरे के विनाश पर उतर आएंगे। स्त्री केवल देह के कारण स्त्री नहीं हैं बल्कि स्त्री होना निर्भर करता है संस्कृति, वर्ग और जाति पर। लेकिन यह पितृसत्ता आज भी प्रत्येक स्तर पर स्त्री का दलन करती है अतः स्त्री का मसीहा अन्य कोई नहीं, स्त्री स्वयं है।

संदर्भ और विचार खण्ड में ही अनामिका जी का लेख 'हम पुरबिया औरतें और हमारा स्त्री-विमर्श' में उन्होंने स्त्री-विमर्श पर पाश्चात्य समाज व साहित्य में स्त्री की दुर्दशा का ब्यौरा देने के साथ ही साथ वर्तमान परिस्थितियों पर बौद्धिक रूप से तर्क पूर्ण चर्चा करती है। वे कहती है कि स्त्री-विमर्श पर अलगाववाद का ठप्पा नहीं लगाया जा सकता। स्त्री समाज एक ऐसा समाज है जो वर्ग, नस्ल, राष्ट्र आदि संकुचित सीमाओं के पार जाता है और जहां कहीं दमन है - चाहे जिस वर्ग, जिस नस्ल, जिस आयु, जिस जाति की स्त्री त्रस्त है उस पर प्रकाश डालने की कोशिश की है। जब कोई जीवन भर साथ निभाने को तैयार है तो सिर्फ इस खातिर उसका वध कर देना क्या उचित है कि उसने जात-पात, गोत्र का बंधन नहीं माना, यह तो हद है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि अस्मिता की लड़ाई मुख्यतः स्वाभिमान की लड़ाई है। स्वाभिमान की लड़ाई पेट भरने की लड़ाई से अलग है। स्वाभिमान की व्याख्या असल में उन स्त्रियों और दलितों से पूछिए जो मान में कई-कई दिन भूखे रह जाते हैं और थककर, बिन मनाएं काम पर लौटते भी हैं।

वंश-परंपरा खण्ड के अंतर्गत मैत्रेयी पुष्पा जी की आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' में यह सच्चाई हालांकि आत्मकथा का मुख्य उद्देश्य नहीं है। मुख्य मुद्दा तो पुरूषवादी व्यवस्था द्वारा स्त्री पर सदियों से लादी गई गुलामी से मुक्ति और स्त्री सशक्तिकरण ही है। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से आत्मकथा की अंतर्धारा में यह सच्चाई प्रवाहमान नज़र आती है।

'कस्तूरी कुंडल बसै' जो कि एक आत्मकथा रूपी उपन्यास है जिसमें लेखिका के माँ की कहानी है और साथ-साथ लेखिका की भी कहानी है। पात्र जो कि वास्तविक है, उत्तर प्रदेश के झांसी और अलीगढ़ जिलों के तरफ के है। कस्तूरी मुख्य पात्र है जो कि लेखिका की माँ है। कस्तूरी उत्तर प्रदेश की सामान्य माताओं जैसी नहीं है, परिस्थितियां उसे 'दंगल' फ़िल्म के आमिर खान जैसा लेखिका मतलब अपनी पुत्री के सेहत के लिए हानिकारक

बना देती है। होता यूं है कि कस्तूरी जिसकी पैदाइश देश की आज़ादी के पहले की होती है, थोड़ी बड़ी होने पर उसके माँ-बाप पैसे लेकर एक उम्रदराज आदमी से उसकी शादी कर देते है। कस्तूरी आगे पढ़ना चाहती थी पर उसकी पढ़ाई छूट जाती है। पहले एक बेटा पैदा होता है लेकिन मर जाता है फिर एक-दो वर्ष बाद में बेटी पैदा होती है लेकिन कुछ दिनों बाद उसका पति मर जाता है। अब घर में बचते हैं माँ-बेटी और वृद्ध ससुर। कस्तूरी के आगे बड़ी विडंबना क्या करे। लेकिन ऐसी परिस्थिति में कस्तूरी बहुत साहस का परिचय देती है। अपनी पढ़ाई फिर से शुरू करती है, बेटी और घर को भी संभालती है। किसी तरह गाँव से कई किलोमीटर दूर कस्बे में पढ़ने जाती है, हाई स्कूल पास करती है और उसे ब्लॉक लेवल पर एक नौकरी मिल जाती है। नौकरी करते हुए कई सालों में एडीओ (सहायक विकास अधिकारी) के पद पर हो जाती है। कस्तूरी गांव वालों के लिए एक मिसाल है, महिला सशक्तिकरण की प्रतिमूर्ति है। लेकिन इन वर्षों के दौरान कस्तूरी सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाजों यथा विवाह, दहेज, जाति प्रथा और महिला उत्पीड़न जैसे सामाजिक अपराधों की मुखर विरोधी होती जाती है। जैसा कि लेखिका बार-बार जिक्र करती है कि सुई अटक गई है कस्तूरी देवी के मन मस्तिष्क में, उसके लिए अपने सिद्धांत ही सब कुछ है और किस प्रकार से कस्तूरी के सिद्धांत कथानक को गढ़ते हैं यही कहानी है इस कहानी की।

तो ये कहानी थी कस्तूरी जी की, अब बात उनकी बेटी यानी लेखिका की। जिन दिनों कस्तूरी को नौकरी करने और आगे बढ़ने का जुनून चढ़ा था, उन्हीं दिनों शायद बेटी (मैत्रेयी) को अपनी माँ की सबसे ज्यादा जरूरत थी। लेकिन बेटी की पढ़ाई ठीक से हो, इस वजह से कभी रिश्तेदार तो कभी जान-पहचान वाले के यहां छोड़ देती थी इस दौरान बेटी के साथ बाल यौन शोषण जैसे घिनौने दुष्प्रयास होते है। इन्ही सब को झेलते हुए मैत्रेयी जी का अपनी माँ से वैचारिक और आचारिक दोनों स्तर पर गहरा मतभेद होता जाता है। जहां एक ओर उसकी मां (कस्तूरी) विवाह और दहेज को महिलाओं की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा मानती है वही मैत्रेयी ग्रेजुएशन तक पहुंचते-पहुंचते खुद ही अपनी मां से शादी कर देने को कहती है। "माता जी मेरी शादी कर दो - बी.ए. पढ़ती मैत्रेयी बोली।"17 शुरू

में तो कस्तूरी देवी तैयार ही नहीं होती है, उनका कहना था कि मैत्रेयी को और पढ़ना चाहिए कोई अच्छी नौकरी करनी चाहिए, लेकिन किसी तरह से शादी करवाने को तैयार हो जाती हैं। अब एक नई मुश्किल सामने आती है लड़का ढूंढने की, लड़का वह भी पढ़ा लिखा, नौकरीदार और दहेज न मांगने वाला हो। कस्तूरी को दहेज के नाम से चिढ़ थी। कुछ ब्राह्मणों ने तो उसकी बात पर इसलिए नहीं सुनी क्योंकि वह औरत होकर कैसे रिश्ता तय कर सकती है क्योंकि औलाद के रिश्ते तो पुरूष गार्जियन या बाप ही तय करता है। "कुल नतीजा यह निकाला जाता कि मैत्रेयी की हस्तरेखाओं में शादी की लकीर नहीं..... लेकिन मैत्रेयी के लिए अधिक सोचना बेकार था क्योंकि जीवन में सब कुछ पाने और सब कुछ लुटा देने की अदम्य लालसा हस्तरेखाओं के ऊपर निकल चुकी थी।"18 आत्मकथा होते हुए भी किताब उपन्यास शैली में लिखा है यह एक खास बात है।

पितृ-सत्ता के षड़यंत्र और स्त्री छवि खण्ड में मृणाल पांडे जी की कहानी 'स्त्री और सदी का अवसान' में स्त्रियों की भारतीय परिवेश में दशा और दिशा के बारे में विस्तार से प्रकाश डाला है। लिंगानुपात हो या शादी या बेटा-बेटी में फर्क (कन्या भ्रूण हत्या) या कोई व्यवसाय भी करना चाहे तो तरफ-तरह की परेशानियों व यातनाओं से गुजरना पड़ता है। मृणाल जी कहती है कि "नारीवाद के झूठे नारे उछाल कर उनके पीछे स्त्री के स्वत्व, उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का ऐसा ही चतुर और अस्वीकार हमें कई प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी योजनाओं तथा प्रयासों में भी देखने को मिल रहा है। जहां स्त्री के मातृत्व से इतर जीवन की प्रायः अवहेलना करते हुए उसे मात्र बच्चे पैदा करने वाली एक इकाई, एक ऐसे 'टारगेट' के रूप में स्थापित किया जा रहा है, जिसे 'टैकल' किए बिना जनसंख्या के बोझ तले तीसरी दुनिया रसातल में धंस जाएगी। मान्यता यह है कि कोख को येन-केन नियंत्रित करके ही आबादी पर तुरंत अंकुश लगाया जा सकता है, लिहाजा पहले कोख को औरत का निजी धन बनाकर प्रचारित किया जाए और फिर औरत को फुसलाकर कोख को पश्चिम में अस्वीकृत गर्भाधान निरोधकों के ताबड़तोड़ प्रयोग से बंध्या बना लिया जाए।"19

इसी खण्ड में मृदुला गर्ग जी की कहानी 'प्रज्ञा और गर्भाशय के बीच' में स्त्री के जीवन के कई आयामों को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत की है। वे कहती है कि "मातृत्व के अनेक

आयाम ही नहीं है, हर आयाम अनेक पूर्वाग्रहों से जुड़ा हुआ है। ज्यादातर पूर्वाग्रह मातृत्व को महिमा-मंडित करते हैं। युगों से करते आए हैं। पर 20वीं सदी में उग्र नारीवाद ने जन्म लिया। मातृत्व को स्त्री के पांव की बेड़ी बतलाया और एकदम विपरीत पूर्वाग्रह को जन्म दिया। यहां तक कि गर्भपात के अधिकार को नारी स्वातंत्र्य का पर्याय बना दिया गया। विडंबना देखिए कि लड़ाई छिड़ी पश्चिम में और गर्भपात का निर्बाध अधिकार मिल गया हिंदुस्तानी औरत को। न सत्ता, न आर्थिक संपन्नता, न निर्णय लेने की शक्ति या संस्कृति, बस गर्‌भ रहे तो छूट है कि चाहो तो गिरा दो। चाहने की छूट हो-न-हो पर गिराने की छूट मिल गई।"20 इस कहानी में स्त्री के व्यक्तित्व, स्वतंत्रता, बंदिशे, उसके जीवन के निर्णय किसी और के हाथ में, उसके विवाह की बंदिशे, उसके बाद संतान पैदा करने की बंदिशे (गर्भपात) इन सबके बाद अच्छी माँ न बनने का अपराध बोध, उसकी मानसिक शांति इतनी तबाह करता है कि उसे पागल करके छोड़ता है। पर कला और साहित्य को क्या दोष दें?

कहानी खण्ड में नासिरा शर्मा जी की कहानी 'वही पुराना झूठ' में गरीबी व औरत के यथार्थ को बताया गया है। गरीबी कल के बारे में चिंतित है और आज से खौफ़जदा है। एक वह ही है जो तड़प रही हैं कि कल क्या होगा? गरीबी और लाचारी हर जगह मार खाती है। कहाँ-कहाँ किस-किस से बचे। जाहिदा के बचपन से लेकर ब्याह तक की कहानी है। लोग कुछ समय तो साथ दे सकते है लेकिन हमेशा नहीं। जब उसकी शादी कही नहीं हो पाती है तो उसे उसके भाग्य भरोसे समाज में छोड़ दिया जाता है। और जाहिदा बचती हुई दिल्ली की सड़कों पर न जाने कहाँ गायब हो जाती है, पता नहीं चलता। स्त्री के जीवन व संघर्ष की सच्ची दास्तान है नासिरा जी की यह कहानी।

कहानी खण्ड में सुधा अरोड़ा जी की कहानी 'आधी आबादी' किसी भी वर्ग की त्रासदी झेलती स्त्री की गाथा है, घर की चार दीवारी में, किस्तों में बटी अपने बच्चों में घर के कोने-कोने से लिपटी खुद के वजूद से बेखबर है, घर से बाहर है तो भी उसका एक हिस्सा घर में ही रह जाता है। जीवन भर घर को संभालती, बच्चों की देखभाल करती अंततः छड़ी बनने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझती है। उच्च और निम्न वर्ग के दम्पत्तियों के ये

चेहरे हिंसा के सूत्र में बंधे है- स्त्री के त्याग पर पति का पनपना और त्याग का अनादर, उपेक्षा और अवहेलना करते हुए हिंसक ही बने रहना।

अगली कहानी सीमा शफ़क़ की 'पाप' है। कहानी में अपने अनुभवों के आधार पर यथार्थ रूप में रूपांतरित किया है। उच्चवर्ग, मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग की महिलाएं घर-गृहस्थी में लगभग एक ही तरह की पीड़ा अपने भीतर दबाएं एक लम्बी उम्र बिता देतीं हैं या उससे निवारण के रूप में खुद को हमेशा के लिए मौन रखने का दुखद रास्ता अपना लेती हैं।

स्त्री-भूमंडलीकरण : पितृ-सत्ता के नये रूप – मार्च 2001

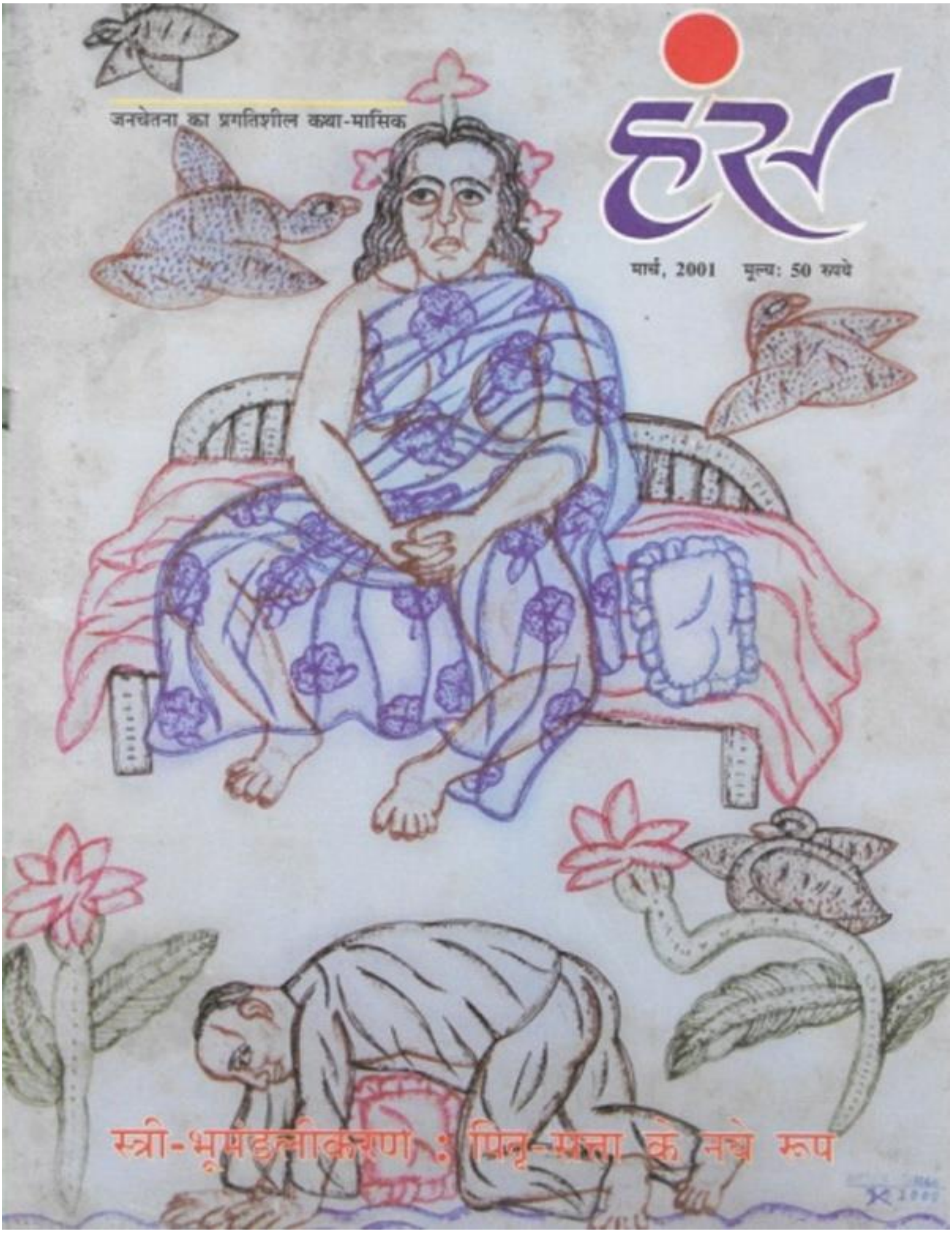

मार्च 2001 में प्रकाशित 'हंस' के 'स्त्री-भूमंडलीकरण : पितृ-सत्ता के नए रूप' विशेषांक में यह शिनाख्त करने की कोशिश की गई थी कि श्रमिकों की एक विशाल फौज के रूप में स्त्री को आत्मसात करने वाले भूमंडलीकरण में स्त्री-पुरूष संबंधों के विभिन्न समीकरण क्या हैं और उसके तत्वाधान में स्त्री कितने प्रतिशत व्यक्ति बनी है और कितने प्रतिशत वस्तु।

'हंस' के विशेषांकों की कड़ी में एक नया विशेषता 'स्त्री भूमंडलीकरण- पितृ सत्ता के नये रूप 2001' के रूप में पाठकों के सामने आया। प्रभा खेतान और अभय कुमार दुबे के संपादन में यह विशेषांक निकला है। इस विशेषांक को निकालने में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ये राजेंद्र यादव, प्रभा खेतान और अभय कुमार दुबे अच्छी तरह से जानते हैं। 'हंस' के आलोचकों ने तो 'हंस' के बैलेंस शीट के आंकड़े पूछना/जानना शुरू कर दिया था। उनको लगता था कि 'हंस' बंद हो जाएगा। 'हंस' के बारे में ऐसी बातें सुनकर राजेन्द्र जी को बहुत कष्ट होता था। राजेंद्र जी इस विशेषांक के संपादकीय में लिखते हैं कि "यह बात सिर्फ मूर्ख और पागल ही कर सकता है। हो सकता है उन्हें इस बात का भी सुराग मिल गया हो कि मेज़ के नीचे कितना रुपया मिलता है! श्मशान में बैठे गिद्ध भूख से बेचैन हैं कि अभी तक 'हंस' की लाश क्यों नहीं आ रही...।"21

'हंस' के पास कोई गड़ा खजाना नहीं है जो भी कुछ है वह मित्रों के सहयोग से है और इसलिए 'हंस' सहयोगी प्रयास है। रुपयों के लिए राजेन्द्र जी ने कभी भी किसी से भी समझौता नहीं किए और ना ही कभी अपने विचारों से समझौता किए। इसलिए 'हंस' के अनेक स्थाई शत्रु बन बैठे। राजेन्द्र जी कहते हैं कि "'हंस' के शत्रु और मित्र विचारों के आधार पर ही बनते-बिगड़ते रहे हैं। कुछ रचनाकारों को अपनी लौटी हुई महान रचना के मुकाबले पत्रिका में छपी रचनाएं घटिया और स्तरहीन लगी है। ऐसा लगना उनका अधिकार है। मगर शायद ही 'हंस' में कोई रचना ऐसी छपी हो जिसे कोई भी अन्य पत्रिका न छापना चाहती।"22

यह सब लिखना राजेन्द्र जी को अच्छा नहीं लगता लेकिन इतना कुछ सुनाना पड़ता है कि सफाई देना जरूरी हो जाती है। आलोचकों के लिए कहते है कि "साहित्य का बहुत

भला होता अगर इनमें से कुछ आगे बढ़कर खुद एक साहित्यिक पत्रिका निकालते और वह सब करते जिसकी उम्मीद या आरोप 'हंस' को लेकर करते हैं।"23 बहरहाल जिंदगी चलती रहती है और साथ ही कभी बंद नहीं होती दूसरी गतिविधियां भी। संस्कृति और साहित्य की बहसें भी चलती रहेंगी।

'हंस' का यह विशेषांक स्त्री-अनुभव के वाचिक इतिहास का नैसर्गिक अंग है। सभी वंचित (स्त्री) वर्गों को अपना अतीत दर्ज करने का उद्यम स्वयं ही करना पड़ता है। वे अपने आप को उघाड़ कर ही यथास्थिति के खिलाफ विद्रोह कर पाती हैं। उनका अंतरंग अनुभव ही उनका पहला अस्त्र होता है और वही उनकी बौद्धिकता का प्रस्थान बिंदु भी जो आगे चलकर उनकी प्रामाणिकता का इतिहास बनता है। स्त्री-आंदोलन जीवन के उन पक्षों पर प्रकाश डालता है जहाँ स्त्री अब तक उपेक्षित और वंचित की हैसियत में रहती आयी है। आदिकाल से ही स्त्री को पुरूष की स्वायत्तता का पर्याय माना जाता है। स्त्री-जाति के लिए स्वायत्तता और स्वतंत्रता की कोई जरूरत ही नहीं समझी गयी। हालांकि लैंगीकरण की प्रक्रिया द्वारा स्त्री और पुरुष दोनों ही एक सामाजिक संरचना बनकर रह जाते हैं, पर इस संरचना में भी एक विभेद है जो अंत तक बना रहता है। भेदक रेखा को मिटा देने से भी दोनों जातियां समान नहीं हो जातीं। दोनों का स्तर और स्थिति सम्मान नहीं है। एक संरचना के रूप में जहां पुरुष में स्वायत्तता का बोध है, वहीं स्त्री में यह बोध शुरू से ही नहीं है। कारण, स्त्री की सामाजिक संरचना पुरूष ने ही तो बनाई है। पुरूष ने ही उसे परिभाषित भी किया है। ऐसी वर्चस्ववादी व्यवस्था में देर-सबेर विद्रोह तो होना ही है।

लेकिन यह विद्रोह या संघर्ष छेड़ेगा कौन? क्योंकि औरतें लड़ाई, संघर्ष, हिंसा के नाम से कतराती हैं। तो क्या करें? क्या स्त्री लौट जाए परंपरा की उन्हीं आदिम गुफाओं में जहाँ न खिड़की, न दरवाजा, न रोशनी और न हवा। इस पर प्रभा खेतान एक कहानी कहती है कि "एक नाव में दो पुतले सवार हुए। उन्हें कहीं जाना था। इनमें से एक पुतला नमक का बना हुआ था और दूसरा चीनी का। बीच समंदर में जोरों की बरसात हुई। नमक के पुतले ने सोचा कि मैं तो इस बरसात में गल ही जाऊंगा। क्यों नहीं इससे पहले समुंद्र की भी गहराई नाप ली जाये और वह पुतला लहरों में कूद गया। वह समंदर में घुला और लहरों

के झाग बन किनारे आ लगा। धूप में तप कर वापस नमक की चट्टान बना। मगर चीनी की गुड़िया नौका में बैठी हुई मंद-मंद मुस्कराती रही और धीरे-धीरे गलती रही। वक्त के साथ पिघल कर वह भी समंदर में ही जा मिली मगर अब सागर की लहरों में उसके लिए कोई स्थान नहीं बचा था। हर ओर केवल नमक ही नमक था। वह पुनर्जीवन के लिए वापस अपनी मिठास नहीं पा सकी। पूछा तो उससे भी गया था कि क्या तुम भी समंदर में कूदोगी? जोखिम लेने का यह आखिरी मौका है पर उसने कहा था, न बाबा ना, मैं तो पानी में डूब जाऊँगी, निःशेष हो जाऊंगी, रीत जाऊंगी।"24 स्त्री अपनी स्थिति-परिस्थिति के लिए स्वयं जिम्मेदार है। 'सेकेंड सेक्स' में ठीक ही लिखा है कि औरत की पहली लड़ाई अर्थ की दुनिया से शुरू होती है। पैसे कमाने से स्त्री निर्णय लेना सीखती है और निर्णय की क्षमता उसके संघर्ष को मजबूत करती है।

महिला लेखिकाओं को 'हंस' में सबसे अधिक स्थान मिल रहा था। खासकर नब्बे के दशक में तो स्त्री मुक्ति से सम्बंधित सामग्री 'हंस' में बढ़ने लगी। यह वही समय था जब अधिकांश पत्र-पत्रिकाएं स्त्री-स्वतंत्रता को एक सामाजिक मुहावरे से अधिक महत्व देने से इनकार कर रही थीं। स्त्री के प्रसंग पर अधिकार लेखिकाएँ कुछ बोलने से संकोच करती थीं। ऐसे समय में 'हंस' द्वारा स्त्री-प्रसंग को अपनाते हुए देखना, स्त्री-विमर्श के लिए एक राह खुलने जैसा था। उस समय 'हंस' ने साल भर में तीन महिला विशेषांक निकाले जो स्त्री के विकास क्रम को फलितार्थ करता हैं।

'हंस' ने औरत की उत्तरकथा रचते हुए अतीत होती हुई सदी में स्त्री के भविष्य को टटोलने का जोखिम उठाया था। उसी प्रक्रिया ने 'स्त्री-भूमंडलीकरण और पितृसत्ता के नये आयाम' की तलाश करते हुए इस अंक में कुछ ठोस शक्ल अख्तियार की है। इसका परिणाम दक्षिणपंथी भटकाव से बचते हुए स्त्री-पुरूष के दृष्टिकोण से भूमंडलीकरण की वामपंथी आलोचना के रूप में निकला है। इस अभय कुमार दुबे लिखते है कि "भूमंडलीकरण नारीवाद की उपेक्षा करता है। दरअसल इसका सूत्रीकरण अस्सी और नब्बे के उन दशकों में हुआ जिनमें नारीवाद अपने ही गतिरोधों से जूझ रहा था। इसी जमाने में भूमंडलीकरण ने आधुनिक विचारधाराओं में सिर्फ नारीवाद को ही असफल

घोषित किया और इस तरह पूंजीवादी आधुनिकता ने पहली बार पितृसत्ता के खिलाफ संघर्ष का दायित्व पूरी तरह त्याग दिया।"25 इस अंक में यह ढूढने का प्रयास किया गया है कि भूमंडलीकरण में नर-नारी संबंधों के विभिन्न समीकरण क्या हैं और स्त्री कितने प्रतिशत व्यक्ति बनी और कितने प्रतिशत वस्तु।

आवरण कथा 'भूमंडलीकरण का प्रति-भूगोल पितृ-सत्ता के नये रूप' में सौजन्य संपादक अभय कुमार दुबे ने भूमंडलीकरण के समय पूरी दुनिया में औरतों की क्या स्थिति थी। भूमंडलीकरण ने औरत को किस तरह देह और बाजार में तब्दील किया है उसका विवरण आकड़ो के जरिए रखने का प्रयास किए है। इसमें एक लेख है 'नारी के देह का निर्यात' जिसमें "भूमंडलीकरण के केंद्र में विदेशी मुद्रा है। इस मुद्रा के कर्ज में दबे एशिया, अफ्रीका और यूरोप के देश अपराधी गिरोहों की मदद से डालरों और पाउंवों के भंडार की पूर्ति के लिए आमदनी के जिन औपचारिक स्रोतों का संस्थागत इस्तेमाल कर रहे हैं। उनमें सबसे बड़ा है औरतों का निर्यात। प्रति वर्ष लाखों युवा औरतें वैद-अवैध जरिए से सीमाओं के आर-पार ले जाया जाती हैं। इसमें कुछ को मजदूरी और घरेलू कामकाज मिलता है और बाकी सभी को जबरन देह-व्यापार में उतार दिया जाता है। इससे होने वाली कमाई से विदेशी कर्ज की किस्तें अदा की जाती हैं और विकास-प्रक्रिया से पैदा हुआ निवेश-अंतराल भरा जाता है।"26 नारी एक ऐसे अस्तित्व की तरह उभरती है जो मुक्त होने के लिए सिर्फ आर्थिक आजादी का इंतजार कर रही थी। तस्वीर तो ऐसी है कि जैसे भूमण्डलीकरण के तहत श्रम का स्तरीकरण हुआ अर्थात श्रमिकों में स्त्रियों की संख्या बढ़ी वैसे ही नर-नारी संबंधों में परिवर्तन आना शुरू हो गया।

स्त्री पूरे अर्थतंत्र के लिए गुलामी कर रही है। वह प्रवासी मजदूर है। नाचने, गाने और मनोरंजन के नाम पर उसका यौन-दुरुपयोग होता है। बधू बनाने के नाम पर वह यौन-दास है या सीधे-सीधे कॉलगर्ल के पेशों में लगी है।

दुबे जी कही एक लेख है 'औरत का श्रम' में भूमंडलीकरण के समय नारीवादी आंदोलन में औरतों की स्थिति कैसी है का वर्णन है। आजादी की बात करने वाली महिलाओं को "अनाकर्षक, असुंदर और यौन-अक्षम कह कर खारिज कर दिया गया था।

पूरे आंदोलन पर अभिजातवर्गीय होने का बिल्ला चिपका कर दावा किया गया कि आम महिलाओं को इसमें कोई रुचि नहीं है।"27 अर्थात जब भूमंडलीकरण का उद्दघोष हुआ तो अमीर देशों में नारीवाद को शक्तिहीन माना जा चुका था।

1986 से 1996 के बीच के दश वर्षों में श्रम-शक्ति का बड़े पैमाने पर स्त्रीकरण हुआ। पहले से जमे हुए नर-नारी संबंधों पर इस प्रक्रिया ने न के बराबर असर डाला। औरत की अधीनस्थ स्थिति का लाभ उठा कर उसे पुरूष के मुकाबले कहीं कम वेतन दिया गया और कहीं ज्यादा काम लिया गया। औरत ने घर में बिना वेतन के प्रजनन और लालन-पालन का काम किया, बाजार में उजरती मजदूर के रूप में कठोर परिश्रम करके घर का खर्च निकाला और अपने देश की अर्थव्यवस्था के लिए डालर और पाउण्ड कमा कर दिये। इस समय भूमंडलीकरण अपने श्रमप्रधान दौर से निकल कर उच्च-प्रौद्योगिकी के दौर में पहुंच गया है। उसे महिला श्रमिकों की ज्यादा जरूरत नहीं है इसलिए उनकी छँटनी का सिलसिला चल रहा है। भारत में पुरूष-श्रम प्रचुर था इसलिए महिलाओं के लिए ज्यादा जगह नहीं निकली। चीन और वियतनाम में महिलाएं पहले से कम तनख्वाहों वाले काम में लगी हुई थीं। मलेशिया, श्रीलंका और बांग्लादेश ने तो अपने सस्ते महिला श्रम को एक प्रलोभन की तरह पेश किया।

इसी खंड में एक लेख 'ताकतवर औरत की मजबूरियां' में ताकतवर प्रतीत होने वाली महिलाओं का एक विशाल शो-केस बनाया गया है। घर से बाहर निकल कर दफ्तर जाती स्त्री इस चमकदार और पारदर्शी शो-केस के केन्द्र में खड़ी है। "भूमंडलीकरण ने इस नई औरत जन्म अवश्य दिया लेकिन वह एक नए मर्द को जन्म नहीं दे पाया जो इस 'पावर-वूमेन' के साथ नए तरह के नर-नारी संबंधों का सिलसिला शुरू कर सकता। पुरुष सफल औरतों को सशंकित होकर देखते हैं। वे सांस्कृतिक संकट के शिकार हैं। पुरूष एक खूबसूरत गुड़िया चाहता है जो हर निर्णय में उस पर निर्भर करे। वह दिखाना चाहता है कि बागडोर उसी के हाथ में है।"28 अधिकांश 'पॉवर वूमेन' तीस की उम्र पार कर चुकी हैं।लेकिन वे अभी तक पुरुषों की तलाश में हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर की कहानी 'समय-समय की शकुंतला' में भारतीय इतिहास के साहित्यिक जानकारियों को उनके स्रोतों के माध्यम से कहने का प्रयास किया है। रोमिला थापर इस कहानी के माध्यम से कुछ प्रश्न करती है जो आज भी है। "महाभारत में शकुंतला एक महाकाव्यात्मक नायक की मां है और मुख्य मुद्दा उसके बेटे के पितृत्व और उसे पहचानने की पिता की जिम्मेदारी से जुड़ा है। कालिदास के नाटक में शकुंतला उच्चजातीय उच्च संस्कृति का रूमानी आदर्श बन जाती है। यहां नैतिक दायित्व शाप और अंगूठी के बाह्य तत्वों के पीछे छिप गया है। ब्रज भाषा की कथा में वह राजा के सामने नहीं झुकती। उलटे वह राजा से इंसाफ करने के लिए कहती है। जर्मन स्वच्छंदतावाद उसे प्रकृति की बेटी के रूप में देखता है। औपनिवेशिक दृष्टि में वह 'ग्राम्य बाला' बन कर अधीनस्थ लोगों की संस्कृति में श्रृंगारिकता की औपनिवेशिक व्याख्या के जाल में उलझी हुई दिखती है। राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के तहत शकुंतला एक आदर्श पत्नी के रूप में उभारी जाती हैं। कहा जाता है कि यह हमारी परंपरा है। यहाँ नैतिकता का सवाल उठता है पर वह स्त्री के सदैव संयमित रहने के आग्रह के इर्द-गिर्द ही सूत्रबद्ध होता है। यह मध्यवर्गीय परिप्रेक्ष्य ही है क्योंकि निम्नवर्गीय दृष्टिकोण तो कभी इस विमर्श का अंग था ही नहीं।"29 राष्ट्रवाद के बाद के दौर में महिलाएं अपने अधिकारों का सवाल कुछ हिचक के साथ उठाने लगीं। राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की हिस्सेदारी उन्हें मुक्ति दिलाने के लिए नहीं बल्कि एक तरह की भागीदारी की भावना प्रोत्साहित करने के लिए थी। ज्यादातर महिलाएं अधीनस्थ सहयोगी ही रहीं।

इसी विशेषांक में वरिष्ठ कवि, कथाकार और संपादक अर्चना वर्मा ने अपनी कहानी 'नेपथ्य' के माध्यम से भूमंडलीकरण के युग में स्त्री-पुरूष संबंधों को देखने का प्रयास की है। 'नेपथ्य' कहानी मन में दबी ऐतिहासिक चेतना और सामंती वृत्तियों का विखंडन करती है। रूढ़ छवियों को पारंपरिक अर्थों और पूर्वाग्रहों से मुक्त कर हर देश-काल में ठहरे एक से राजनीतिक-सांस्कृतिक दबाओं को देशकालातीत बनाती है और हाशिए के आर्त्तनाद को अस्मिता की लड़ाई का विचारोत्तेजक रूप देती है। तब कहानी कालिदास की 'अभिज्ञानशाकुन्तल' से कन्नी काट कर प्रेम-विवाह मिलन की श्रृंगारिक रचना नहीं रह

जाती, स्त्री का उपयोग कर कूटनीति के सहारे अपने वर्चस्व को बचती पुरूष व्यवस्था की बानगी बन जाती है। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के 'शकुंतला' कहानी का विश्लेषण का स्मरण कराती यह कहानी स्त्री सशक्तिकरण का आख्यान ही नहीं करती बल्कि स्त्री का इतिहास, वर्तमान और भविष्य स्वयं लिखने की जरूरत को भी उकेरती है। यहां स्त्रियां देह के द्वार पर पुरूष द्वारा अनादृत अवश्य हुई लेकिन पुरूष-संरचनाओं द्वारा पराजित नहीं।

लोकप्रिय दलित महिला लेखिका बामा की आत्मकथ्य 'करुक्कु जैसा जीवन' स्वयं के जीवन पर आधारित है जो कैथोलिक समुदाय में जाति संरचना पर केंद्रित है। अपनी आत्मकथा में बामा ने समाज के उत्पीड़न के साथ अपने संघर्षों को कलमबद्ध किया है और कैसे वह पहले से अधिक शक्तिशाली और मजबूत बनकर उभरी है। बामा जी के जीवन में करुक्कु एक महत्वपूर्ण मोड़ बन गया। बामा जी ने जो दर्द अनुभव किया था। उसे समाज के सामने लाने के लिए अपार सराहना और समर्थन मिला। 'करुक्कु' में दलित समाज से जिस तरह से बात की, किसी आत्मकथा ने नहीं की। इसने तमिल साहित्य में एक नई विधा का मार्ग प्रशस्त किया।

मैत्रेयी पुष्पा की सद्यःप्रकाशित आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' में यह सच्चाई हालांकि आत्मकथा का मुख्य उद्देश्य नहीं है। मुख्य मुद्दा तो पुरूषवादी व्यवस्था द्वारा स्त्री पर सदियों से लादी गई गुलामी से मुक्ति और स्त्री सशक्तिकरण ही है। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से आत्मकथा की अन्तर्धारा में यह सच्चाई प्रवहमान नज़र आती है। मैत्रेयी पुष्पा कहती है कि यही है हमारी कहानी। मेरी और मेरी माँ की कहानी। आपसी प्रेम, घृणा, लगाव और दुराव की अनुभूतियों से रची कथा में बहुत सी बातें ऐसी हैं, जो मेरे जन्म के पहले घटित हो चुकी थीं, मगर उन बातों को टुकड़ों-टुकड़ों में माताजी ने जब-जब बता डाला, जब-जब उन्हें अपनी बेटी को स्त्री-जीवन के बारे में नए सिरे से समझाना पड़ा। कालान्तर में ऐसा हुआ कि सबकुछ अपनी आंखों के सामने घटित हुआ, लेकिन फिर भी क्रम टूटता था। जगह खाली राह जाती थी। "औरतों की दुनिया ज्यों की त्यों है। मैत्रेयी ने औरत होकर जन्म लिया या लज्जाशील औरत के सांचे में ढाली जा रही है? वह तो अपने

आपको मनुष्य का मूल रूप नारी समझ रही थी, जैसे मनुष्य का मूल रूप पुरुष होता है।"30 वहां कल्पनाओं, अनुमानों से सूत्र जोड़ने पड़े। माँ भी पूरी तरह कहाँ खुलती थीं? लेकिन उनकी बेटी उनका लगाव, गुस्सा, लाड़, अलगाव, ममता और निर्मोह हो जाने की एक-एक भंगिमा का बचपन में चित्र उतारती रही।

'हंस' का पिछला महिला विशेषांक विमर्श, आत्मकथा और सृजनात्मक साहित्य के अलग-अलग खंडों में विभक्त होते हुए भी संपूर्ण सावयवी था, लेकिन यह अंक उन विविध आयामों की परस्पर निर्भरता के जरिए रचा गया है। साहित्य की दृष्टि से इस अंक में महिला रचनाकार तरह-तरह के शिल्पों को साधते हुए दिखती हैं। गीतांजलि श्री ने दो सफल उपन्यासों के बाद तीसरे उपन्यास 'तिरोहित' में इसी विधा में शैली का अलग प्रयोग किया गया है। कात्यायनी लंबी कविता की जटिल संरचना से जूझती नजर आती हैं। मैत्रेयी पुष्पा के आत्मकथ्य की दूसरी सुदीर्घ क़िस्त में एक नए आत्मकथात्मक उपन्यास की आहटें सुनी जा सकती हैं। चित्रकार अर्पिता सिंह से साक्षात्कार इस अंक की विशेष उपलब्धि है। मंगलेश डबराल से बातचीत में अर्पिता जी स्त्री के अस्तित्व और शरीर को स्त्री की तरह देखने की जिस प्रक्रिया का वर्णन करती हैं, उसमें पुरुष प्रधान सौंदर्यबोध से भिन्न दृष्टि के दर्शन होते हैं।

निष्कर्ष :

भूमंडलीकरण ने राज्य और आधुनिकीकरण को महिला मुक्ति की परियोजना से पृथक करने की कोशिश की है। इस रूप में उसने नई पितृसत्ताओं का सृजन किया है जो पहले से स्थापित पितृसत्ताओं को और सुदृढ़ करती हैं। उसने एक तरफ लैंगिक तटस्थता का दावा किया है और दूसरी तरफ विकास के नाम पर महिला-संगठनों की भाषा को भी अपनाया है ताकि इन प्रच्छन्न पितृसत्ताओं का सूत्रीकरण होने में बाधा न पड़े।

स्त्री विमर्श : अगला दौर – 2009

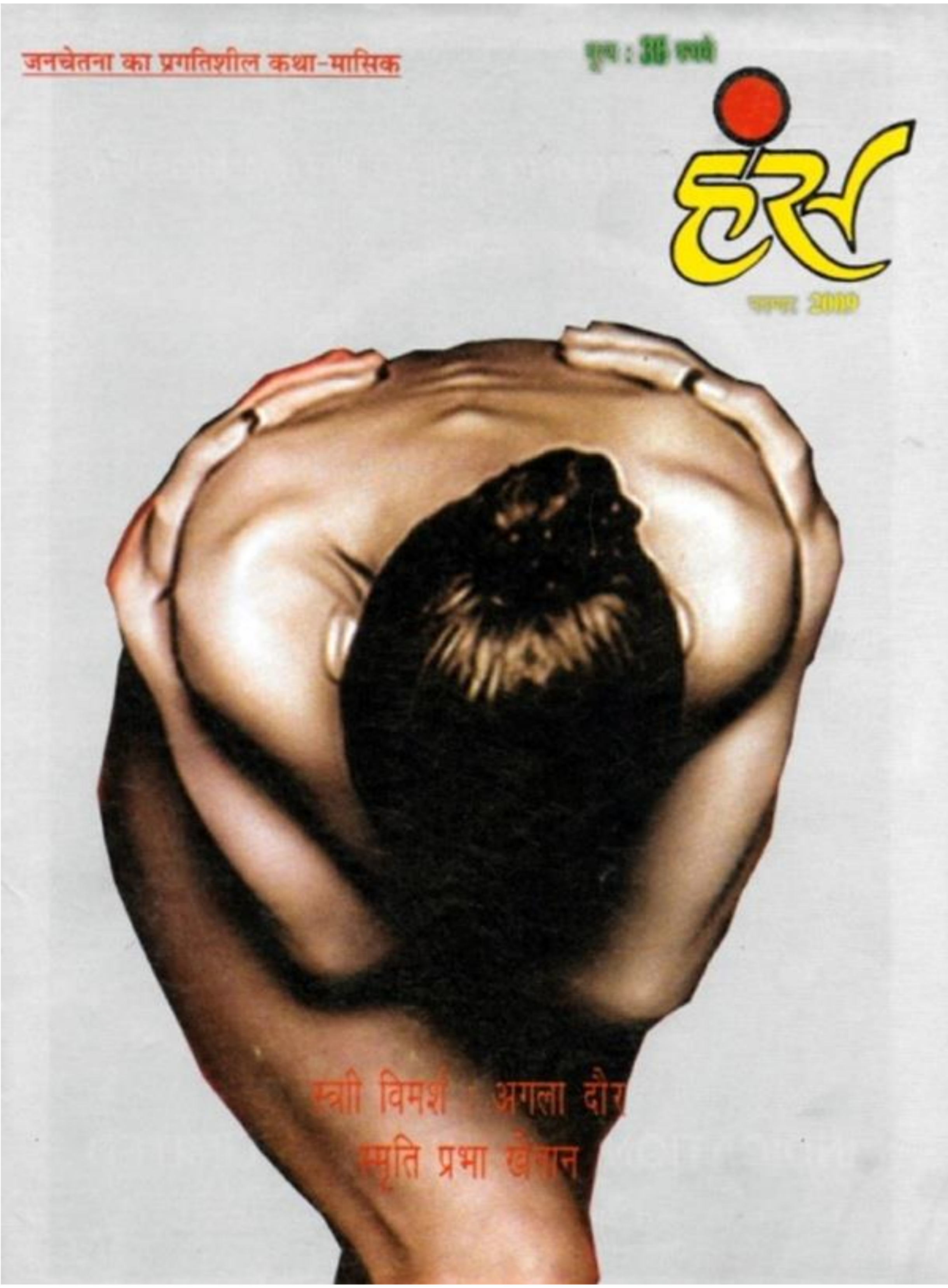

नवम्बर 2009 में प्रकाशित 'हंस' के 'स्त्री विमर्श : अगला दौर' विशेषांक के संपादक राजेन्द्र यादव व अतिथि-संपादक अर्चना वर्मा, बलवंत कौर हैं। इस विशेषांक में राजेन्द्र यादव जी ने संपादकीय टिप्पणी 'समाधान मांगता स्त्री-विमर्श' से की है। राजेन्द्र जी कहते हैं कि ये स्त्री विमर्श का अगला दौर है। जैसे किसी को साइकिल सिखाने के लिए आप कुछ दूर तक ही हैंडिल थामे साथ चल सकते हैं, इसके बाद तो हवा से बातें करती साइकिल होती है या फिर खुला विस्तार। कभी राजेंद्र जी ने कहा था कि "सबसे पहले तो स्त्री को देह के स्तर पर ही मुक्त होना पड़ेगा क्योंकि नैतिकता, संस्कृति-धर्म और देह-शुचिता के सारे बंधन स्त्री देह को लेकर ही हैं। यहां इस बात में भी कोई अंतर्विरोध नहीं है कि दुनिया के सारे परिवर्तन पहले विचार के स्तर पर ही घटित होते हैं। इसके बाद ही व्यवहार जगत तक आते हैं।"31

आतिथ्य खण्ड में अर्चना वर्मा जी का लेख 'परिवार-सत्ता और स्त्री-विमर्श' में भारत के पहले स्वाधीनता आंदोलन और राष्ट्रीय चेतना के दायरे से लेकर वर्तमान तक स्त्री से जुड़े सवाल और विमर्श पर अपनी बात बहुत रखी है। वे कहती है कि "भारतीय स्त्री की दुनिया लगातार बदलती भी रही और काफी कुछ वहीं की वहीं खड़ी भी रही। यह कहने में रत्ती भर अतिरंजना नहीं कि भारतीय स्त्री संसार की सबसे अधिक दलित स्त्री है और यह कहने में भी रत्ती भर झूठ नहीं कि भारतीय स्त्री सर्वाधिक मुक्त, मुखर और स्वतंत्र है।"32 आगे वे परिवार-सत्ता पर भी अपनी बात रखती है कि परिवार सत्ता मुख्यतः पितृ सत्ता ही है। कुछ समुदाय (नायर, मराठा कबीले) को छोड़कर जहां कुल की मुखिया, कुलवृद्धा स्त्री को दी जाती है।

जब तक घर के भीतर तक की ही बात थी तब तक मातृसत्ता का इलाका अलग था। लेकिन औरत अब बाहर निकल आई है, बेशक पुरुष की अनुमति से ही सही लेकिन अनुकंपा जनित सुरक्षा और संरक्षण से उसे इंकार है। अब यह न्यायोचित अधिकार का दावा भी है। निःसंदेह मातृसत्ता के नाखून और पंजे बहुत गहरे और नुकीले हैं। मकसद सिर्फ स्त्री-विमर्श के भारतीय संस्करण की अनिवार्य जरूरत को रेखांकित करना है। "स्त्री विमर्श अंततः एक ऐसे समाज के स्वप्न को साकार करना चाहता है जो न्याय की नई समझ

पर आधारित हो, क्षमता और पारस्परिकता के सौहार्द और ऊष्मा से पगा हो लेकिन जिसे वह स्वयं शक्ति-विमर्श पर टिकी होने के कारण अपने लिए प्राणघाती संकट समझती है और तत्काल युयुत्सा और आक्रामकता के परे नहीं जा पाती।"33

स्त्री का अपना विमर्श अगर पितृसत्ता की छाया से मुक्त होगा तो उसे स्त्री की अपने अनुभव में से उपजना भी होगा। हिंदी का अपना स्त्री-विमर्श स्त्री के अनुभव को स्त्री की भाषा में दर्ज तो करता है लेकिन चाहे एक हाहाकार हो या एक युयुत्सु ललकार, प्रायः अनुभव को दर्ज करने तक ही सीमित रह जाता है, अनुभव के अर्थ और निष्कर्ष की वैचारिक निष्पत्ति तक नहीं जाता जो पितृसत्ता की आलोचना की कसौटी, आत्मविश्लेषण का औजार, स्वत्वबोध की सामग्री बन सके और इसके लिए जरूरी भावात्मक संतुलन और तटस्थ विवेक का अर्जन कर सकें।

'शिकंजे का दर्द' कहानी में सुशीला टाकभौरे जी कहती हैं कि "पीएच.डी. प्राप्त कालेज की प्राध्यापिका होने के बाद भी मैं इस तरह हिंसा, अन्याय, उत्पीड़न सहती रही। मेरे साथ लगातार यह सब होता रहा। मैं गुस्से में कभी अलग रहने का विचार करती थी। नौकरी के रहते मुझे किसी के सहारे की जरूरत नहीं थी। कई बार मैंने निर्णय लिया 'मैं उनके साथ नहीं रहूंगी'। मगर कुछ दिनों में मैं अपने मन को समझा लेती थी। बच्चों के लिए पिता की जरूरत को मैं समझती थी। धीरे-धीरे मेरा मन बदल जाता 'जाने दो, आगे ऐसा नहीं होगा। परिवार टूटने से बच्चों के साथ अन्याय होगा। बच्चों को मां के साथ पिता भी चाहिए'। यह सब सोचकर मैं गुस्सा छोड़ देती और सामान्य रूप में बातचीत करते हुए नौकरी, घर-परिवार की जिम्मेदारी को संभालने लगती थी। नौकरी, पढ़ाई और सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए मैं इन बातों को जल्दी भूल जाती थी।"34

लवलीन जी की कहानी 'ज़िंदगी डायरी के बरक्स' में वे कहती है कि "स्त्री-विमर्श तो एक छोटा सा वक्फा है। लड़ाई तो कन्या रूप में जन्म के साथ ही जिजीविषा की तरह आरंभ हो जाती है। यह ऐसी लड़ाई है जो पुरुष प्रधान और पितृसत्तात्मक, असमान-अक्षम्य मूल्यों वाले समाज में बचपन में ही विकृत समाजीकरण के रूप में शुरू हो जाती है जो लड़ाई मेरी परनानी ने लड़ी। वही लड़ाई आज मैं भी लड़ रही हूं। देखा जाए तो मानव

इतिहास के इस सबसे बड़े संघर्ष का कोई विश्वव्यापी सामान्यीकृत रिकॉर्ड नहीं है। मेनिफेस्टो नहीं है, यह नितांत निजी लड़ाई है जो नारी स्वतंत्रता, फेमिनिज्म के नारों व सिद्धांतों से कहीं ज्यादा विषम और विकराल है और हर युवती के जीवन में, अलग-अलग जीवन स्थितियों में अलग-अलग समस्याओं के रूप में रूबरू होकर टकराती है जैसे फेफड़ों में सांस सी अवश्यंभावी।"35

हिंदी का स्त्री-विमर्श विचार में उतना नहीं, जितना सृजन में, सामर्थ्य का परिचय देता है और साहस का भी। पितृसत्ता से उसकी रार तो यहां दर्ज है ही, मातृसत्ता याकि सत्तामूलक किसी भी विमर्श का उल्लंघन और अतिक्रमण भी और अपने स्वत्व की रचना और अभिव्यक्ति भी।

यहां संकलित कहानियां में स्त्री-अनुभव के बदलाव को एक विकास-क्रम में रखने की कोशिश की है। अनुगति से लेकर उदासीन स्वायत्तता, आक्रामकता और अंततः एक संतुलित स्वत्वबोध तक की छवियाँ इन कहानियों में दर्ज है। पूर्वाग्रहों के गिलाफ के नीचे स्त्री की आकांक्षा और स्वप्न को एक बार टटोल कर देखने का निवेदन भी है।

वरिष्ठ कथा-लेखिका दीपक शर्मा की कहानी 'कुल-जोड़' स्त्री-पुरूष या यूं कहें तो जिंदगी की जद्दोजहद से रूबरू कराती है। इस कहानी में सीधे-सीधे पुरुष प्रधान समाज में स्त्री के प्रति होने वाले अन्याय और अत्याचार की सामान्य समझी जाने वाली घटनाओं के अनेकानेक पहलुओं और आयामों को पाठक के सामने दृश्यायमान करती हैं। यह कहानी कहीं-कहीं सामाजिक समीकरणों के साथ-साथ स्त्री-पुरुष के रिश्तों का समीकरण भी खोल देती हैं। यह काल्पनिक कम घटनाप्रधान कहानी है। जिनमें सूचनाएं कम मात्र आटे में नमक की तरह अर्थात् अल्प सूचनाओं और न्यूनतम शब्दों में वितान पर खींचे चित्र गहन गहराई में ले जाते हैं।

अमरीक सिंह दीप की कहानी 'यह मिथक नहीं' में स्त्री के जीवन का अलग रूप देखने को मिलता है। सावित्री के रूप में स्त्री के ज़िन्दगी के उस पहलू या सच्चाई से रूबरू कराता है जिसमें लगता है कि स्त्री पैदा होती ही है सताने के लिए, मार खाने के लिए, पति रूपी नर पिशाच इंसान की हर तानासाही/पिटाई को सहने के लिए। तो वही दूसरी तरफ

सावित्री के मालिक समीर जो भगवान रूपी इंसान है जो सावित्री के हर दुख-दर्द का सहभागी है निःस्वार्थ भाव से। सावित्री की पिटाई की बात सुनकर समीर शून्य में खो जाता है और सपना देखता है- "सपने में उसे एक विशाल स्लॉटर हाउस नजर आता था, जहां न जाने कितनी स्त्रियों की खाल खिंची रासें लटकीं दिखाई देती थीं... पुरुषों की भीड़ इस स्लाटर हाउस में अपनी पसंद का गोश्त तलाशती हर रास के अंग-अंग को टटोलती-परखती घूमती फिर रही थी...कुछ ग्राहक जिन्हें मनपसंद गोश्तवाली रास मिल जाती थी वे उसे फूलों से सजी गाड़ी में लादकर घर ले जा रहे थे... घर ले जाकर कोई उसे कच्चा चबाना शुरु कर देता, कोई उसका कीमा कूटता, कोई तंदूर में भूनता और कोई चिता पर। घबराकर वह इस स्लाटर हाउस के संचालक की तलाश में दौड़ना शुरू कर देता है। हैरानी की बात यह है कि हर बार उसकी तलाश किसी न किसी धर्म स्थल पर जाकर समाप्त होती थी।"36

भारत में स्त्री-विमर्श सिद्धांत और शास्त्र की अपेक्षा बहुत सारे छोटे-छोटे व्यावहारिक कार्यक्रमों और आंदोलनों के रूप में अधिक सक्रिय है। सिद्धांत और शास्त्र के संदर्भ बिंदु पश्चिमी विमर्श से सीधे उठा लिए जाते हैं। विमर्श का चिंतन पक्ष विश्वविद्यालयों के विभागों में सेमिनारों, पत्रों-प्रपत्रों, शोध निबंधों और प्रबंधों के ज्यादा काम का है, इनमें से निकलना भी है और इन्हीं को गढ़ता भी है और इस सिलसिले में अपने समाज और स्त्री समुदाय की ज़मीनी हकीकत से दूर होता चला जाता है।

यहां क्षेत्रकार्यों, समाचारों, साक्षात्कारों पर आधारित कुछ ज़मीनी हकीकतों को सामने रखने की कोशिश है हालांकि स्थिति जितनी दारुण है उसके शतांश का अंदाज़ा भी इनसे लगाया नहीं जा सकता।

लेखिका 'रजनी गुप्त' की कहानी 'अपने-अपने युद्ध' में स्त्री के साहस, बलिदान, संघर्ष और इच्छाशक्ति का बखूबी वर्णन किया गया है। "स्त्री जिस दिन खुद पर थोपी गई रूढ़ियों या परंपरागत मूल्यों से खुद को मुक्त कर लेगी, तभी से उसके अंदर निर्द्वंद्वता और निडरता का अहसास जगेगा और ठीक उसी पल वे बेखौफ होकर अपने प्रति हो रहे

अन्याय का प्रतिकार करना सीख जाएंगी।"37 इस कहानी में मध्यवर्गीय स्त्रियों की स्थिति, संघर्ष और इच्छाशक्ति को कई उदाहरणों के माध्यम से बताने का प्रयास की है।

'परिभाषा से परे' कहानी में लेखिका नवप्रीत कौर ने पंजाब व हरियाणा के बाल्मीकि समुदाय के एक आंदोलन 'आदि धर्म समाज' (आधास) के संदर्भ में जेंडर के मुद्दों को समझने का प्रयास की है। जातीय पहचान पहचान की इस राजनीति के तहत पितृसत्ता की जड़ों पर गहरी चोट उसके जातिगत आधार पर प्रहार करने के परिणामस्वरूप होती है। नारीवादी मुद्दे केवल 'स्त्रियों' के मुद्दे न होकर विभिन्न पहचानों तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों में 'पुरुषों' (ना कि पुरूष) के मुद्दे हो जाते हैं।

लेखक आदित्य निगम की कहानी 'देह की आज़ादी, मर्दानगी और बाज़ारवाद' में कट्टरता पर कड़ा प्रहार किया है। कट्टरता व बाज़ारवाद कैसे एक-दूसरे से जुड़े हैं और इंसान के ज़िन्दगी पर कैसे प्रभाव डालते है। इन सब के बीच में उत्पीड़न होता है स्त्री का, जहाँ संस्कृति और परम्परा पीछे छूट जाता है। "नारीवाद यह भी मानता है कि नारीवादी होने के लिए औरत होना जरूरी नहीं हैं। यानि नारीवाद में मर्दों की जगह जरूर है मगर उसी हद तक जिस हद तक वे नारीवादी प्रोजेक्ट में शरीक होना कुबूल करें। दूसरे दौर के नारीवाद के मुकाबले यह एक बहुत बड़ा कदम है जो उसे उस एसेंशियलिज़्म से बाहर ले आता है जो हर किस्म की पहचान की सियासत को हमेशा घेरे रहती हैं।"38

परख के माध्यम से यहां स्त्री-विमर्श के एक महत्वपूर्ण दस्तावेज की तरह लेखिका डॉ. सुमन राजे की पुस्तक 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' को दर्ज किया जा रहा है। इस श्रमसाध्य काम में उन्होंने उन बन रहे शब्दों को खोज निकालने की कोशिश की है जिसके जरिए हमारे पूर्वजों ने खुद को इतिहास में अंकित किया लेकिन जो फिर भी इतिहास के मलबे में गड़े रह गए।

इस पुस्तक की मूल्यांकन लेखिका 'निशा नाग' ने अपने लेख 'एकला चलो रे बनाम इत्यादि का इतिहास' के माध्यम से करने की कोशिश की है। "साहित्येतिहास लेखन की इस परंपरा में सुमन राजे का 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह आधा इतिहास केवल वर्णन ही नहीं करता बल्कि मिथक और लोक साहित्य के

माध्यम से स्त्री से संवाद भी करता है। वर्तमान में जबकि समग्र साहित्य के अध्ययन का प्रश्न जोर-शोर से उठाया जा रहा है - हाशिए के समाज और सामाजिक संबंधों के मध्य रचित साहित्य (लिखित अथवा वाचक की) अंतरवलयित इकाइयों को खोजने का प्रयत्न किया जा रहा है। इतिहास का अनुशासन यहां स्त्री केंद्रीय दृष्टि से स्वयं अपना नया अर्थाकार लेता हुआ दिखाई देता है।"39 डॉ राजे के अनुसार स्त्री का लेखन समाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रामाणित करने का प्रयत्न है। यह नारी-साहित्य को अपर्याप्त मानने के विरुद्ध विद्रोह भी है। सुमन जी के व्यक्तित्व में साहित्यकार और इतिहासकार दोनों का समन्वय है।

हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम 'हंस' के माध्यम से स्त्री विशेषांक, स्त्री विमर्श तथा स्त्री लेखन की परंपरा शुरू हुई जो आज तक जारी है इसका श्रेय हंस और राजेन्द्र यादव जी को जाता है।

हंस और दलित के बदलते आयाम

दलित विमर्श :

दलित विमर्श की शुरुआत ही दलित एवं वंचित होने के अहसास के साथ होती है। 'दलित' शब्द को समाज में आर्थिक दुरावस्था, गरीबी से पीड़ित जनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। ये वे लोग हैं जिन्हें सदियों से वर्ण, जाति, धर्म, संप्रदाय के नाम पर सामाजिक प्रताड़ना का शिकार होना पड़ा है। दलित शब्द का अर्थ - दबाया हुआ, रौंदा हुआ, शोषित, दमित आदि।

दलित विमर्श क्या है? यह सवाल जितना आसान है उसका जवाब ढूंढना उतना ही मुश्किल। कारण ज्योंहि हम किसी लेखन को 'दलित साहित्य' कहना शुरू करते हैं, उसकी खास संरचनाएं आकार ग्रहण करना शुरू कर देती हैं। 'दलित' से संबंधित सभी चीजें दलित हैं अथवा दलित द्वारा रचित या व्यवहृत समस्त संरचनाएं एवं संकेत 'दलित-विमर्श' हैं - ये कुछ ऐसे सवाल और संदर्भ हैं जिनसे दलित साहित्य के विचारकों को बार-बार टकराना पड़ता है।

1. सत्ता-विमर्श और दलित - 2004
2. दलित (प्रतिरोध।अधिकार।समता) नवंबर - 2019
3. दलित (प्रतिरोध।अधिकार।समता) दिसंबर – 2019

परिभाषा :

हिंदी मानक कोश के अनुसार - "दलित शब्द का अर्थ है रौंदा हुआ मर्यादित, कुचला हुआ पदाक्रांत वर्ग, हिंदुओं में शुद्र, जिन्हें अन्य जातियों के सामान अधिकार प्राप्त नहीं है।"

रामचंद्र वर्मा के शब्दों में - "दलित शब्द का अर्थ है- मसला हुआ या दबाया हुआ, कुचला हुआ। जिसे समाज की मूल धारा से वंचित किया गया है वह दलित है।"

ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में - "दलित शब्द का अर्थ है जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, पस्त, हतोत्साहित वंचित आदि है।"

मोहनदास नैमिषराय के शब्दों में - "सर्वहारा वर्ग की सीमाओं में आर्थिक विसमता का शिकार दलित है।"

दलित साहित्य की पृष्ठभूमि और स्वरूप :

दलित साहित्य की पृष्ठभूमि में डॉ. भीमराव अंबेडकर की विचारधारा, उनका चिंतन और उनके द्वारा छेड़ा गया दलित आंदोलन है। ज्योतिबाफुले एवं महात्मा बुद्ध का दर्शन भी इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत आता है।

दलित साहित्य के तीन रूप हैं –

1. वह दलित साहित्य सामने आया जो दलित जातियों में जन्मे लेखकों का है। इनका मानना है कि वास्तविक रूप में इनके द्वारा रचित साहित्य ही दलित साहित्य है।
2. उन हिंदू लेखकों के द्वारा रचित साहित्य जिनमें दलितों की पीड़ा और शोषण का चित्रण है परंतु वे दलित जाति के नहीं हैं।
3. प्रगतिशील लेखकों के द्वारा रचित साहित्य है।

हिंदी के अधिकांश दलित लेखकों ने अपने रचनात्मक लेखन में जन्म एवं जाति के कारण हो रहे शोषण, दमन और उत्पीड़न को केंद्रीय आधार बनाते हुए दलित समाज के इन्हीं दुखों से मुक्ति की परिकल्पना की है, चाहे वह ओमप्रकाश वाल्मीकि की **जूठन** जैसी आत्मकथात्मक कृतियां हो अथवा कौशल्या बैसंत्री कृत **दोहरा-अभिशाप**, मोहनदास नैमिषराय की **अपने-अपने पिंजरे** हो अथवा सूरजपाल चौहान कृत **तिरस्कृत**, जयप्रकाश कर्दम की **नो बार** जैसी कहानियां हो अथवा सुशीला टाकभौरे की **सिलिया**, श्यौराज सिंह बेचैन का आत्मकथात्मक अंश **बेवक्त गुजर गया माली** हो या प्रहलाद चंद्र दास की

कहानी **लटकी हुई शर्त**। इन लेखकों ने दलित समाज के उत्पीड़न (दुःख) का सबसे बड़ा कारण वर्ण एवं जाति केंद्रित भारतीय (हिंदू) सामाजिक व्यवस्था को ही माना है जिसके कारण उन्हें सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में हाशिये की जिंदगी व्यतीत करनी पड़ती है।

दलित साहित्य के समर्थक अथवा विरोध में जो संघर्ष अथवा वैचारिक बहसें हो रही हैं, वे निश्चित रूप से साहित्य और विचारधारा की दुनिया में 'दलित-विमर्श' का वास्तविक स्थान तय करेंगी। यह अवधि क्या होगी, फिलहाल कुछ कहना मुश्किल है। कारण, अनुमान करना भविष्यवाणी की तरह है जिसके विरोध में दलित साहित्य की धारणाएं विद्यमान हैं। पर यह निश्चित है कि साहित्य और विचार की परंपरा में दलित साहित्य का वजूद अब स्थायी रूप ले चुका है। इसलिए दलित साहित्य के मूल्यांकन को लेकर जो बहसें होंगी, वह निश्चय ही इस नए साहित्य और विचार का कुछ निश्चित आधार तय करेंगी।

सर्वप्रथम अंग्रेजी सरकार ने 1933 में जब 'Depressed Classes' समाज के लोगों में कुछ सुविधाएं दी थीं तब पहली बार 'दलित' शब्द का प्रयोग किया। 'Depressed Classes' में अस्पृश्य समाज के साथ आर्थिक रूप से पिछड़े व गरीब लोगों को इस सूची में रखा गया। इस प्रकार सामाजिक व आर्थिक रूप से शोषित, पीड़ित, वंचित, दमित व कुचला हुआ वर्ग दलित वर्ग माना गया।

नब्बे के दशक में ऐसा पहली बार हुआ जब एक प्रतिष्ठित पत्रिका के संपादक ने हिंदी में दलित साहित्य वाली पोस्ट करें उस गोष्ठी के माध्यम से लोगों को पहली बार पता चला कि हिंदी में कोई समाज के साथ आर्थिक रूप से शोषित, दलित साहित्य की धारा भी विकसित हो रही है वह संपादक थे राजेंद्र यादव और पत्रिका 'हंस' थी। राजेंद्र यादव ने उस दौर से लेकर अपने जीवन के अंत समय तक दलित लेखकों की रचनाओं को हंस में प्रमुखता से छापा दलित साहित्य पर हंस के कई विशेषांक भी निकाले साहित्य से इतर उन्होंने दलितों से जुड़े सामाजिक मुद्दों को भी चर्चा का विषय बनाया। अपने लेखन और संपादकीय कार्यों के जरिए उन्होंने हिंदी में दलित साहित्य को समझने और आगे बढ़ाने का काम किया जो उनसे पहले किसी संपादक में नहीं किया था इन सब की बदौलत

दलित साहित्य हिंदी में स्थापित धारा बन पाया। हंस के प्रकाशन के बाद राजेंद्र यादव ने उसे ऐसे मंच का रूप दिया जिस पर ऐसे कई नए कहानीकार सामने आए जिन्हें कोई जानता तक नहीं था राजेंद्र यादव ने जगह दी उनके तमाम विवादों के बावजूद भी उन्होंने लोगों को मौका दिया।

राजेन्द्र यादव के शब्दों में - "मैं हमेशा से कहता हूं कि दलितों और स्त्रियों का कोई इतिहास नहीं है। जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है वह तो सवर्ण एवं पुरुषों का इतिहास है। उसमें दलित कितना मालिक के लिए वफादार रहा या कितना मालिक के कहने पर बस्तियां जलाई, कैसे उसने मालिक की जगह अपने सीने पर गोलियां खाई ये दलित का इतिहास है, स्त्री कितनी पतिव्रता थी, निष्ठावान थी, हमारे लिए सती हो जाती थी, कैसे उसने राजवंश को बचाने के लिए अपने बच्चे की बलि दे दी यह स्त्री का इतिहास है। यानी इनका नहीं बल्कि इनकी वफादारी का इतिहास है, दरअसल इतिहास उसका होता है जो अपने फैसले खुद लेते हैं, दलित और स्त्री अपने फैसले नहीं ले सकते थे।"40 दलित समाज शिक्षा के अभाव में लोगों के बहकावे में आ जाते थे। उनको खुद नहीं पता होता था कि वे गलत कर रहें हैं या सही। ये भोले-भाले लोग अपने मालिक के प्रति अपनी वफ़ादारी दिखाते थे। इसी में अपनी भलाई समझते थे। शायद परिस्थितियां भी उनको इजाजत नहीं दे रही होगीं।

सत्ता-विमर्श और दलित – 2004

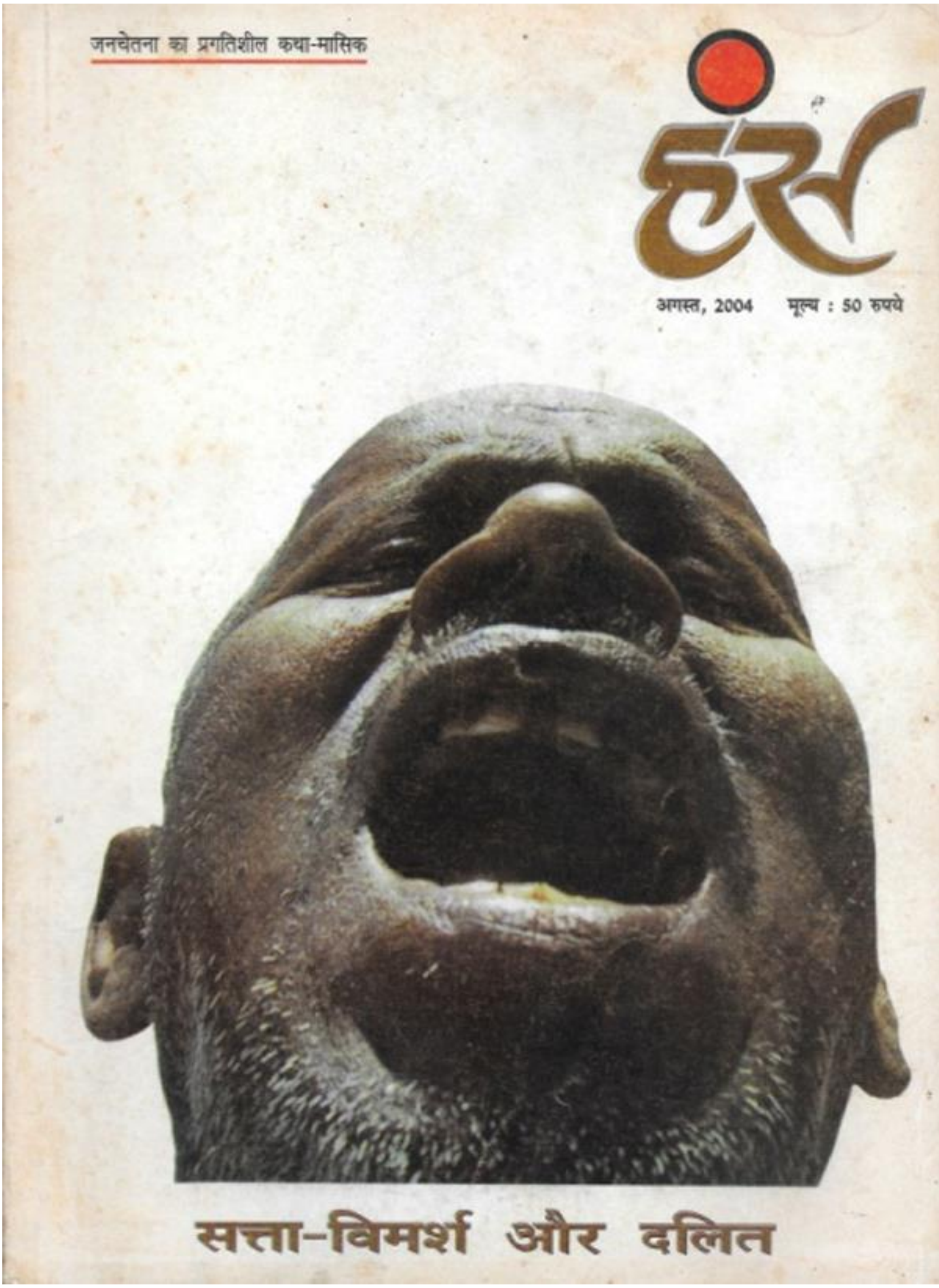

प्रेमचंद जी की जयंती पर 'हंस' का दलित-विशेषांक उनकी दलित-संवेदना और सरोकारों को रेखांकित करने की दृष्टि से ही आयोजित किया गया था क्योंकि सहमति-असहमतियां ही किसी लेखक को प्रासंगिक बनाए रखती हैं।

श्यौराज सिंह बेचैन के अतिथि सम्पादकीय में छपा इस विशेषांक में दलित कहानियां, आत्मकथा, कविताएं, साक्षात्कार आदि को शामिल किया गया। यह स्वानुभूति, वैचारिकी, कहानियों, कविताओं, साक्षात्कार का बेजोड़ संयोजन है। इस अंक में बीस कहानियां संकलित है। ओमप्रकाश बाल्मीकि की कहानी 'चिड़ीमार' सवर्ण समाज के एक घिनौने सच को दर्शाती है। वैसे भले ही सवर्ण दलितों के साथ भेदभाव रखते हैं। परंतु दलितों की सुंदर लड़की को देखते ही लार टपकाने लगते हैं। इस कहानी में इसी को दिखाया गया है। 'दिवंगत' कहानी के माध्यम से राजेंद्र यादव यह विचार रखते हैं कि आरक्षण के आधार पर चयनित लोगों की योग्यता पर संदेह प्रकट किया जाता है, परंतु जो सवर्ण घूस और सिफारिश के बल पर नियुक्त होते हैं उन पर कोई उंगली क्यों नहीं उठाता? इस अंक में प्रहलाद चंद दास की 'अब का समय' जय प्रकाश कर्दम की कहानी 'लाठी' का प्रसंग, कंचनलता की कहानी 'बाप', राजेंद्र कुमार की कहानी 'सत्तूमघैया' अनीता रश्मि की 'मिरग-मरीचा' कहानी, रजतरानी की 'मीनू', राम निहोर विमल की 'दस्यु' का प्रसंग, मुशर्रफ अली का कहानी 'पिघलता हुआ शीशा' शिवकुमार की 'रात', अजय नावरिया की 'उपमहाद्वीप', सरिता भारत की कहानी 'मैं मइया थी' आदि कहानी प्रकाशित हुई जो दलित साहित्य के विकास में सहायक हुई।

संपादकीय स्तंभ 'तेरी-मेरी उसकी बात' में 'सत्ता की शतरंज और दलित मोहरे...' में राजेन्द्र यादव जी कहते है कि "जनजातियों और आदिवासियों के साथ-साथ समाज व्यवस्था में अनिवार्य रूप से गूँथे हुए दलित और स्त्रियां हमारे सत्ता-विमर्श में केवल 'रिसिविंग-एंड' पर ही रहे हैं। इनके लिए सिर्फ कर्तव्य हैं, अधिकार नहीं। इनकी जिंदगी, जीविका और रहन-सहन के निर्णय भी मालिकों के हाथों में हैं। यह जिम्मेदारी भी इनकी अपनी है कि मालिकों की कृपा के लिए कैसे अपने आपको ढालें या अनुकूलित करें। गुस्ताखी और हुक्म-उदूली का अपराध स्वयं गुलाम की ज्यादा डंसता है, यहां तक कि या

तो आगे बढ़कर खुद सजा की मांग करता है या प्रायश्चित करके अपने को पाप-मुक्त करना चाहता है।"41

अघोषित पाबंदियों के बीच सत्ता-विमर्श और दलित- "भारत में गुलाम प्रथा कभी नहीं रही और यह कि अस्पृश्यता किसी भी दशा में उतनी बुरी नहीं रही है, जितनी कि गुलाम प्रथा है।"42

अपने संपादकीय में बेचैन जी लिखते हैं कि- "प्रमाणिक सामाजिक अध्ययन अंग्रेजी राज में ही आरम्भ हुए। पहली आम जनगणना 1881 में जातियों और प्रजातियों की सूची बनी। 1891 में उच्च और निम्न जाति के रूप में वर्गीकृत हुए। 1901 में उच्च जाति हिंदुओं ने जाति उल्लेख का तीव्र विरोध किया। 1911 की जनगणना में उन जातियों और उन कबीलों की अलग-अलग गणना की, जो ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और वेदों की सत्ता नहीं मानते, बड़े-बड़े हिंदू देवी-देवताओं और गाय की पूजा नहीं करते, जो गोमांस खाते हैं।"43 दलित भारत का दुर्भाग्य है कि कानून बनने के बावजूद समाज संस्कृति, शिक्षा, साहित्य और मीडिया में अस्पृश्यता अतीत की वस्तु नहीं बनी हैं। स्थिति में इजाफा यह कि सुधरे हुए परिवर्तित रूप में अस्पृश्यता पहले शरीर से होती थी अब विचारों/हितों और हकों से होती है जो शरीर पर कम, मन मस्तिक पर अधिक आघात पहुंचाती है। बौद्धिक क्षेत्रों से दलितों का बहिष्कार इसके ज्वलंत उदाहरण है।

सन 1990 के बाद के 14 सालों के हंस की प्रतियां देखें तो दलितों की हिस्सेदारी का प्रतिशत पांच से भी कम रहा है। स्थायी स्तम्भ भी कभी किसी दलित लेखक को नहीं मिला है। लेकिन समग्र रूप से हिंदी पत्रिकाओं की स्थिति देखें तो हंस ही है जो पूरी प्रतिबद्धता और दायित्वबोध के साथ दलित-साहित्य की बहस के केंद्र में लाने का प्रयास करता रहा है। इसके लिए संपादक को गालियों का प्रसाद भी मिलता रहा है।

हिंदी का दलित-साहित्य सामाजिक न्याय, इंसानी भाईचारा, समता और स्वतंत्रता की जोरदार वकालत कर रहा है। धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक मौलिकता और पृथकता के साथ-साथ भारतीय ज्ञान-विज्ञान, कला-संस्कृति को समृद्ध और विनष्ट कर दी गई परंपरा को युग-युगांतरों से जोड़ता है।

स्वानुभूति स्तंभ :

स्वानुभूति का आत्मकथांश स्तंभ उसी परंपरा को व्यक्त करता हैं, जो लगातार शारीरिक और मानसिक शोषण की गहरी यंत्रणा झेलते हुए भी 'एकला चलता रहे' और उन्होंने समाज में महत्वपूर्ण स्थान और सम्मान दोनों हासिल किए। स्वानुभूति स्तंभ पाठक को विचार करने के लिए विवश करती है।

स्वानुभूति संस्मरण स्तंभ में मनोज कुमार मार्तण्ड की 'अस्तित्व' में चमार जाति का हरी संपूर्ण जीवन पिटाई और प्रतिकूल परिस्थितियों में केवल डॉक्टर बनने के सुखद सपने को सामने रखकर हर अपमान और अन्याय के जहर को आंख मूंदकर पीता रहता हैं। जब डॉक्टर बनके कठिन रास्ते को पार कर गांव में स्थित होता है। किंतु यादव की लड़की को बेइज्जत करने के झूठे आरोप के कारण इतना सारा मारा जाता है कि वह बूढ़े बाप को बेसहारा पत्नी को विधवा और अपने अनाथ बच्चों को बेदर्द समाज के हवाले कर सदा के लिए चला जाता हैं। "ये साले यहां सरकारी वजीफा लेने आते हैं, पढ़ने नहीं... देख सारे के... डॉक्टर बने... बाप खपड़ा छाये, मजूरी करें अउर बेटवा डॉक्टर बने... अरे साले चमारिया... जाई के हर जोत खेत गोड़, डॉक्टरी चमारेन के बस में नाइ न। वजीफा ले... घर जा।"44 इस आदेश का पालन न करते हुए हरी ने अपनी पढ़ाई तो नहीं छोड़ी किंतु डॉक्टर हरिश्चंद्र को दुनिया छोड़नी पड़ी।

अच्छे अनुभव बहुत कम और कष्टदायी अनुभव अधिक से अधिक का यथार्थ वर्णन जीवंत हो उठा हैं। दलित साहित्य का प्रवाह व्यापक बनाने में निश्चित ही हंस का यह विशेषांक मील का पत्थर हैं।

कहानी स्तंभ :

राजेन्द्र यादव जी ने दलित साहित्य को ऊर्जा प्रदान की हैं। बहुत से दलित साहित्यकार ऐसे है जिन्होंने 'हंस' से प्रेरणा लेकर लिखना आरंभ किया।

दलित उत्पीड़न भारतीय समाज का यथार्थ है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियां इस यथार्थ को नग्न रूप में दिखाती हैं। दलित उत्पीड़न को वाल्मीकि जी ने बड़े तटस्थता

और निरपेक्षता के साथ दिखाया है। मानवीय संवेदनाओं की सभी पक्षों को वाल्मीकि की कहानियां उद्घाटित करती हैं। ये कहानियां धर्म, ईश्वर, भाग्य, परंपराएं, रूढ़ियां, दासता, अंधविश्वास, जातिवादी, उच्चता-निम्नता, जातीय संकीर्णता आदि के विरुद्ध खड़ी दिखाई देती हैं। मूलतः वाल्मीकि जी मानवता के पक्षधर हैं।

वाल्मीकि जी की कहानी 'चिड़ीमार' एक सशक्त कहानी है। एक भंगी समाज से आयी युवती सुनीति का सरकारी नौकरी करते हुए ऑफिस से लेकर रोड-रोमियो तक घर का पीछा करना "दूर से ही नाम लेकर पुकारना, चिल्लाना, फिकरे कसना, जोर-जोर से हँसना, भद्दे, अश्लील इशारे करना, द्विअर्थी शब्दों में बोलना, रोजमर्रा का काम हो गया था।"45 जातिसूचक शब्द से चिल्लाना वास्तविकता का चित्र स्पष्ट करता है। इंस्पेक्टर वर्मा का अपने वरिष्ठ अधिकारी द्वारा अपमान को, वह जातिसूचक शब्द प्रयोग करने के जुर्म में उसका गुंडे गिल्लू को बहुत पीटना, उसे वरिष्ठ अधिकारी से बदला लेने के बराबर लगता है। "वर्मा बन जाने से जात ऊँची नहीं हो जाती है, अपनी पतलून में ही रहा कर... तेरी हिम्मत कैसे हुई, इतने खानदानी डॉक्टर से सवाल-जवाब करने की... औकात में रहा कर। तेरे जैसे लोग उनके यहां चौकीदारी करते हैं।"46 इसी वरिष्ठ अधिकारी की इस बातों को अपने अपमानबोध को क्रोध के रास्ते राह देता हैं।

जयप्रकाश कर्दम दलितों में जाग्रत आत्मसम्मान एवं स्वाभिमान की भावना को कहानियों में अभिव्यक्त करते हैं। 'लाठी' कहानी बदनी जाट के जुल्म के खिलाफ फग्गन और उसके परिवार में आक्रोश एवं विद्रोह की भावना को दर्शाती है। इस संदर्भ में जयप्रकाश जी लिखते हैं- "सब अपनी-अपनी चारपाइयों पर बेचैनी से करवटें बदल रहे थे। हरिसिंह की कमर में लगी लाठी के दर्द को हर कोई अपने अंदर महसूस कर रहा था।"47 आक्रोश की ज्वाला में सब भूल जाते है लेकिन कर कुछ नहीं सकते। इस कहानी में हिंसा के खिलाफ आक्रोश एवं प्रतिरोध के स्वर को अभिव्यक्त किया गया है।

साक्षात्कार स्तंभ :

साक्षात्कार स्तंभ में नामवर सिंह, कमलेश्वर, मनोहर श्याम जोशी, प्रो. मैनेजर पाण्डेय, डॉ. अर्चना वर्मा, प्रो. निर्मला जैन, उदय प्रकाश, उदित राज, अशोक वाजपेयी, बलवंत सिंह, रमणिका गुप्त आदि ने प्रभावशाली विश्लेषण प्रस्तुत किया हैं। दलितों और उनके साहित्य के प्रति बहुआयामी दृष्टिकोण पैदा किए हैं। इस सम्पूर्ण विश्लेषण से ऐसा लगता है कि हिंदुस्तान को वर्गों के आधार पर बांटकर देखना मार्क्सवादियों की भूल हैं जबकि भारत वर्णों में विभाजित हैं।

फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई दुमो ने कहा है कि "भारतीय समाज में वर्ण और जाति एक नहीं हैं। यह भारतीय समाज की विशेषता है। इसे स्वीकार किया जाना चाहिए।"48

दलित साहित्य की स्वानुभूति-सहानुभूति की बहस दलित साहित्य के साथ आयी है। जहाँ दलित साहित्य की चर्चा होगी वहाँ स्वानुभूति ही बहस का केंद्र होती हैं। इस पर नामवर सिंह जी कहते हैं कि "गैर दलित, दलित साहित्य लिखते हैं तो उस पर कोई रोकथाम तो की नहीं जा सकती। बल्कि उसका स्वागत करना चाहिए। परंतु दलित जो अनुभव करता है, वह गैर-दलित से निश्चितरूपेण भिन्न होगा। इतिहास के इन मूक नायकों की लेखनी का स्वागत किया जाना चाहिए। उनकी इस सक्षमता की विशेष सराहना की जानी चाहिए।"49 दलित साहित्य की स्वानुभूति-सहानुभूति के प्रश्न पर मनोहर श्याम जोशी जी कहते हैं कि "मैं यह मानने को भी तैयार हूं कि सहानुभूति की अपेक्षा स्वानुभूति ज्यादा प्रामाणिक और प्रभावप्रद हो सकती है। मैं वह भी मानने को तैयार हूं कि किसी भी रचनाकार के लिए अपने आरंभिक संस्कारों से पूरी तरह मुक्त हो सकना असंभवप्रायः है। यह भी कि हर रचनाकार को कच्चा माल और रचनात्मक ऊर्जा अपने जीवन के आरंभिक दौर से ही प्राप्त होती रहती है। इसलिए स्वाभाविक है कि दलितों के बारे में दलित ही सबसे अच्छा लिख सकते हैं। लेकिन यह कहना कि कोई गैर-दलित दलितों के बारे में कोई प्रामाणिक या प्रभावप्रद रचना लिख ही नहीं सकता, लेखकीय सहानुभूति और कल्पनाशीलता का जबरदस्त अवमूल्यन करना है।"50 इस विषय पर प्रो. मैनेजर पाण्डेय जी कहते है कि "दलित साहित्य के माध्यम से उन जन समुदाय की अपनी आवाज हिंदी

साहित्य में सुनायी दे रही है जिनको साहित्य की दुनिया में स्वयं को बोलने का अधिकार लगभग अब तक नहीं रहा है। उनके शोषण और दमन, सुख और दुख या यातना और पीड़ा, संघर्ष में पराजय और विजय के बारे में दूसरे ही बोलते रहें हैं। इस तरह दलित समुदाय की प्रामाणिक आवाज बनकर दलित साहित्य हिंदी साहित्य का लोकतंत्रीकरण कर रहा है। दूसरे स्तर पर अनुभव का भाषा से बहुत गहरा संबंध होता है। हम शब्दों में या भाषा में कुछ सोचते और व्यक्त ही नहीं करते हैं, बल्कि जिंदगी भी जीते हैं। दलित साहित्य में दलित जीवन के अनुभवों के साथ-साथ वह भाषा भी आ रही है जिसमें दलित कभी अपने मन से और कभी मजबूरी में जीते रहे हैं।"51

इस स्तंभ में अर्चना वर्मा जी ने अपनी बात बहुत गम्भीरता से और सटीक कही है जिससे दलित साहित्य के नाम पर मचायी जाने वाली हाय-तौबा के पहलू स्पष्ट दिखाई देते हैं। प्रो. निर्मला जैन कहती है कि लेखन किसी की बपौती नहीं है। तो उदय प्रकाश जी कहते है कि दलित लेखकों को पुरस्कृत होने से बचना चाहिए। वहीं रमणिका गुप्ता दलित साहित्य को अपने आलोचक पैदा करने की बात कही है।

साक्षात्कार स्तंभ से दलित, गैर दलित साहित्यकारों ने दलित साहित्य को लेकर तमाम प्रश्नों, समस्याओं, उलझनों पर प्रकाश डाला गया है, जिससे दलित साहित्य को समझने में व्यापक दृष्टि मिल सकती हैं।

दलित साहित्य (प्रतिरोध।अधिकार।समता) विशेषांक नवंबर 2019

दलित और स्त्री को साहित्यिक चिंतन के केंद्र में लाने का श्रेय राजेंद्र यादव और उनके हंस को जाता है। 2004 में उन्होंने श्यौराज सिंह 'बेचैन' के अतिथि संपादन में हंस का दलित विशेषांक 'सत्ता-विमर्श और दलित' प्रकाशित किया था जिसमें संपादन सहयोग अजय नावरिया जी का था। वह हंस का अब तक का सबसे लोकप्रिय अंक गिना जाता है। हंस का यह विशेषांक (प्रतिरोध॥अधिकार॥समता) दो खंडों में नवंबर-दिसंबर 2019, अजय नावरिया जी के अतिथि संपादन में प्रकाशित हुआ। इस अंक में अधिकांश प्रकाशित दलित कवि/लेखकों को जगह दी गई है, अप्रकाशित व कम प्रकाशित दलित कवि/लेखकों को नहीं। इस अंक में भी अहोरुपम्, अहोध्वनि और आपसी उठा-पठक की वही कहानी अन्तःस्थ दिख रही है, जिसका शिकार दलित समाज सदियों से होता रहा है।

अजय नावरिया के अतिथि सम्पादकीय में छपा इस विशेषांक में दलित कहानियां, कविताएं, विचार-विमर्श, बहिष्कृत भारत आदि को शामिल किया गया है। इस अंक की उपलब्धि श्री रूप नारायण सोनकर की स्वानुभूति 'भटकटैया', मोहनदास नैमिषराय की 'निज़ाम', जयप्रकाश कर्दम की 'चक्रव्यूह', श्यौराज सिंह बेचैन की 'आंच की जांच', मुसाफिर बैठा की विमर्श 'बिहार राज्य और दलित साहित्य' महत्वपूर्ण उपलब्धि है। अजय नावरिया 'हंस' नवंबर 2019 के अंक में बतौर अतिथि संपादक लिखते हैं कि "जातिवाद एक ऐसी बुराई है। अस्पृश्यता एक लोचदार अवधारणा है। कभी यह एकरेखीय नहीं रही। धर्म ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि ब्रह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों में भी आपस में छुआछूत का चलन था। ब्राह्मण जाति के लोग आपस में ही श्रेष्ठ-हीन मानते हुए ब्राह्मणों के साथ ही अश्पृश्यता का व्यवहार करते थे।"52 यानी इस यातना को, जिसे भी जब अवसर मिला, प्रत्येक ने दूसरे-तीसरे को प्रताड़ित किया। कुल मिलाकर प्रस्तुतांक एक संग्रहणीय अंक है।

कहानी स्तंभ :

मोहनदास नैमिशराय की कहानी 'निजाम' दलित कैदियों पर हो रहे पुलिसिया दमन की खौफनाक सच्चाई को परत-दर-परत और सिलसिलेवार रखने वाली कहानी है।

दिलचस्प बात यह है कि यह कहानी ऐसे समय में आई है, जब सरकारी निजाम की ओर से यह दावा किया जा रहा हो कि वह दलितों की रक्षा के लिए तत्पर है। चूँकि न्याय व्यवस्था दलितों के नियंत्रण में नहीं है, इसलिए शासन-प्रशासन की निर्माताओं का उन्हें शिकार होना पड़ता है। 'निजाम' कहानी का जेलर दुबे जाति के आधार पर कैदियों से बर्ताव करता है। यदि कैदी भंगी समुदाय से है तो वह उसे पैखाना और गंदगी साफ करने का काम देता है। कहानी की कथा में ममदू की पीड़ा के जरिये जेल निजाम की निष्ठुर और शुष्क होती संवेदनाओं की कलाई खोली गई है। ममदू जाति से भंगी है, जिसकी माँ मैला उठाने का काम करती थी। उसकी मां के साथ मालिक ने ज्यादतियां की तो ममदू विरोध करता है। अपराधी को पकड़ने के बजाय पुलिस ने ममदू को ही अपराधी बनाकर जेल में डाल दिया था। कहानी बताती है कि जेल के डॉक्टर भी दलितों का इलाज करते समय भेदभाव करते हैं। "एक अछूत के जख्म भी अछूत थे। जिन जख्मों को डॉक्टर ने छूने से मना कर दिया था उन्हीं जख्मों पर मरहम-पट्टी की थी प्रभात ने।"53 'निजाम' कहानी का एक पात्र प्रभात कुमार को महसूस होता है कि इस देश की जमीन का क्या कोई ऐसा भी टुकड़ा होगा, जहां दलितों के साथ बेइंसाफी न हो।

श्यौराज सिंह बेचैन की कहानी 'आंच की जांच' के केंद्र में एक लावारिस बच्चे की जाति की जांच का अभियान है। बच्चे को शरण देने से पहले आधुनिक शहरी भारतीय समाज की सबसे बड़ी चिंता है कि उसकी जाति क्या है? इसी चर्चा पर केंद्रित अनेक तर्कों और संवादों के माध्यम से कथा आगे बढ़ती है और बच्चे की जाति ज्ञात होने के साथ ही अभियान और कहानी का अंत होता है। ये कहानी जाति को ऊंचा मानने वालों को बेनकाब करती है।

विचार-विमर्श स्तंभ :

रजत रानी मीनू ने 'दलित स्त्री-मुक्ति की सैद्धांतिकी' में जाति के सीमित दायरे को तोड़कर दलित समाज की नई समस्याओं से पाठकों को अवगत कराती है। किस तरह एक दलित परिवार में एक स्त्री के अस्तित्व का संकट उसकी समूची अस्मिता के संकट

के रूप में सामने आता है जिसके लिए वह संघर्षरत है। रजत रानी मीनू एक सम्भावनाशील लेखिका हैं। ये दलित समाज में स्त्री की स्थिति को लेकर चिंतित होती प्रतीत होती हैं। वे कहती है कि "दलित समाज में पितृसत्तात्मक सोच छिपे हुए रूप में मौजूद रहती है। लेकिन दलित समाज की मूल संस्कृति में पितृसत्ता नहीं रही है। वे दोनों श्रमिक रहे हैं। मालिकों से सीख कर हमने इसे दुशाला की तरह ओढ़ लिया है।"54

रजनी अनुरागी का विमर्श 'दलित स्त्री जीवन का नवाख्यान रचती हुई कहानियां' में रजनी तिलक के संघर्ष और कहानियों का वर्णन है। दलित महिलाओं के हक के लिए आवाज उठाने वाली रजनी तिलक का जीवन खुद भी संघर्ष से परिपूर्ण रहा है रजनी तिलक एक दलित नारीवादी होने के साथ-साथ एक लेखिका भी रही हैं। उन्होंने खुद को तमाम आडंबरों से दूर रखा और तर्क की कसौटी पर पितृसत्ता और समाज के कई रूढ़िवादी ढांचों को ताक पर रखा। रजनी तिलक की ज्यादातर कहानियां स्त्री केंद्रित कहानियां हैं। "'घर', 'डकोत ब्राह्मण', 'निशा' और 'एक थी माया' जैसी कहानियां स्त्री जीवन की त्रासदियों, उनसे गुजरते और संघर्ष करते हुए निम्नवर्गीय और जातीय स्त्री के बनते व्यक्तित्व का आख्यान हैं।"55 रजनी तिलक की कहानियों में हमें प्रतीकात्मकता की बजाय बिंबात्मकता ज्यादा देखने को मिलती है। और यही बिंबात्मकता रजनी को विशिष्ट कहानीकार बनाती है। साथ ही दलित और स्त्री जीवन के परिवेश और जीवन की सच्चाई का ऐसा दृश्य प्रस्तुत करती है जिसे देखकर लोग उनसे और गहराई से जुड़ जाते हैं।

बहिस्कृत भारत स्तंभ :

इस अंक की बड़ी उपलब्धि श्री रूपनारायण सोनकर की स्वानुभूति 'भटकटैया' है, जिनमें उनके द्वारा रचित वैज्ञानिकी फिक्शन 'सुअरदान' से चुराई और उड़ाई गई कथा और कथा-विन्यास से श्री राकेश रोशन ने किस प्रकार हिंदी फिल्म 'कृष-3' बना ली, फिर जिस प्रकार से सोनकर जी ने 'सूअरदान' के कॉपीराइट उल्लंघन के विरुद्ध लड़े तथा तब उनके लिए भारतीय न्यायिक व्यवस्था एक दलित साहित्यकार के लिए जटिलतम होती चली गई, यह तो उस समय उन्हें उतनी पीड़ा नहीं दे पाई थी, जब 'सूअरदान' शीर्षक पर

ही 'गोदान' प्रशंसकों ने हल्ला बोल दिए थे। अंततः सोनकर जी की जीत हुई। लेखक कंवल भारती ने कहा था कि "मिथकों को तोड़ने का कार्य केवल रूपनारायण सोनकर ने किया है। 'सूअरदान' एक ऐसा मिथक है जो वर्षों से स्थापित हिंदू मिथक 'गोदान' को धराशायी कर रहा है।"56 मूलचंद सोनकर अपने दौर के ऐसे बौद्धिक थे जो कभी-कभी वास्तविक मुद्दों पर समझौता नहीं करते थे।अपने दौर के सवालों, चुनौतियों और बुद्धिजीवियों को लेकर उनकी एक विशिष्ट समझ थी और उसे वे लगातार मांजते रहते थे। जिस दौर में लोगों की वफादारियां अपने हिसाब से बनती-बिगड़ती थीं, उस दौर में भी मूलचंद जी ने बिना नफे-नुकसान के अपनी पसंद-नापसंद को जाहिर नहीं किया बल्कि अंत तक उस पर डटे भी रहे।

दलित साहित्य (प्रतिरोध।अधिकार।समता) विशेषांक दिसंबर 2019

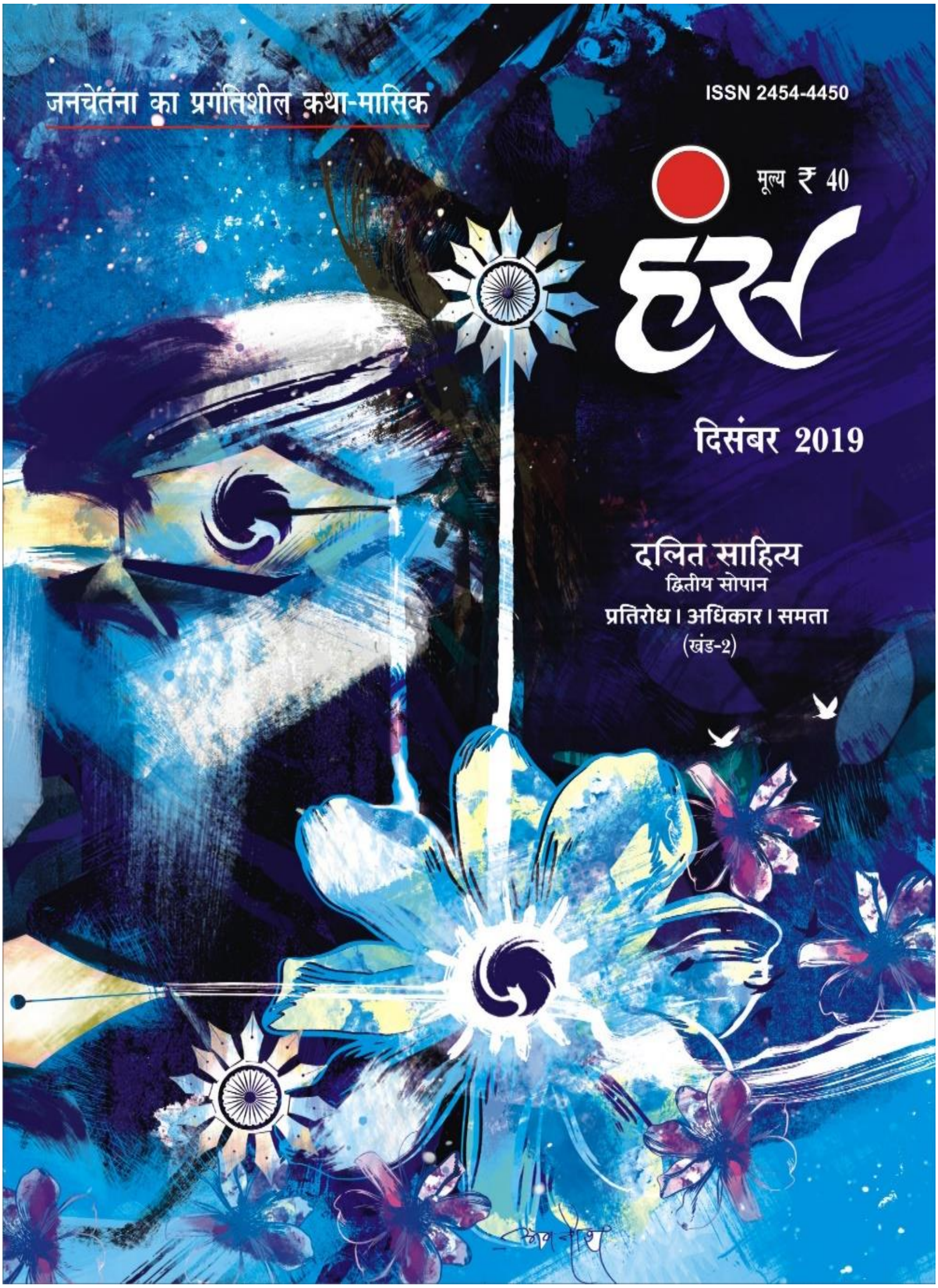

यह विशेषांक भी अजय नावरिया के संपादन में ही प्रकाशित हुआ। इसमें कहानी, कविता, विचार-विमर्श, दोहा, ग़ज़ल, बहिष्कृत भारत स्तंभ है। कहानी स्तंभ में मैं खबरदार रजत रानी मीनू, चाबी कैलाश वानखेड़े, पगडंडियां अंजली काजल, गेम ऑन अनिल तेजराना, ज्वाला हरीश मंगलम, पैंथर का शिकार कमला दास विचार-विमर्श स्तंभ में विविधता का सिद्धांत और भारत एच. एल. दुसाध, पहली विद्रोही कवयित्री सावित्री बाई फुले सिद्धार्थ रामू, दलित आत्मकथा प्रतिरोध की परंपरा दत्तात्रेय मुरूमकर बहिष्कृत भारत स्तंभ में संघर्ष ही धर्म उम्मेद गोठवाल, विस्थापन में बचपन मुकेश मानस।

संपादकीय में नावरिया जी 'जाति, धर्म, आरक्षण : कुछ विचार' शीर्षक से लिखा है कि "अब हम इस स्थिति में पहुंच गए हैं कि इतिहास के कहे और बनाए 'सत्यों' का पुनरीक्षण करने का प्रयास करें। ये 'ऐतिहासिक सच' इतने बचकाने और भुरभुरे हैं कि तर्क की जरा सी त्वरा को भी नहीं झेल पाते हैं। हैरानी की बात न होगी कि अगर इन्हें वैज्ञानिक कसौटियों पर कसा जाए तो अधिकांश जड़ से उखड़ जाएंगे क्योंकि इन 'ऐतिहासिक असत्यों' की जड़े गहरी नहीं हैं।"57 आखिर क्या कारण है कि सवर्ण समाज के लोग चाहे जितना भी आधुनिक हो जाएं, लेकिन जातिगत दंभ से मुक्त नहीं हो पाते? इस सम्पादकीय के माध्यम से उन्होंने शिक्षित एवं पद प्रतिष्ठित दलितों के जीवन को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। मसलन, हिन्दू समाज चार वर्णों में बंटा हुआ है। हम सभी इस तथ्य से भली-भांति परिचित हैं। एक दलित व्यक्ति कितना भी योग्य हो, अंततः वह अछूत ही है। वह चाहकर भी स्वयं को इस पहचान से अलग नहीं कर पाता है?

दलितों की स्थिति पर प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तथा उसके बाद वर्तमान काल तक वो परत-दर-परत पड़ताल करते है, तो पाते है कि स्थिति आज भी वैसी ही है थोड़ा बहुत सुधार हुआ है। इसके साथ ही नावरिया जी कुछ सुझाव भी हैं कि "जाति-व्यवस्था को नष्ट किया जाए। यह राष्ट्र के ही नहीं, हिन्दू धर्म के लिए भी श्रेयस्कर होगा। यह काम भी मुख्यतः ब्राह्मण जाति और गौणतः अन्य सवर्ण जातियों के द्वारा ही हो सकता है। ब्राह्मण, कायस्थ और भूमिहार जाति, वर्तमान उत्तर भारत के बुद्धिजीवी वर्ग के बड़े हिस्से का प्रतिनिधित्व करती है।"58 यह सत्य भी है कि सामान्यतया लोग, बुद्धिजीवी लोगों के कृत्यों

का ही अनुसरण करते हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहार में भी यह अनुकरण बहुत स्पष्ट होता है।

कहानी स्तंभ :

'मैं खबरदार' कहानी में रजत रानी मीनू जी ने यथार्थरूप को कहानी के माध्यम से बड़े ही प्रभावशाली ढंग से आज के समाज में व्याप्त असमानता, जाति-पात, गैरबराबरी को दिखाई हैं। वर्षा का पालन-पोषण भी एक अच्छे स्वास्थ्य परिवार में हुआ। प्रखर/मेधावी छात्रा जो देश के प्रतिष्ठित संस्थान से पढ़ी है। जब वो काम करने बाहर जाती है तब उसका सामना एक ऐसे समाज से होता है जहां उसे पता चलता है कि संविधानिक नियमों के बावजूद समाज के मुख्यधारा के बाहर कितने ऐसे लोग जी रहे हैं जिसके लिए जाति महत्वपूर्ण है। यह कहानी वर्तमान मीडिया का यथार्थ दिखाती है। समाज का सच्चा चेहरा दिखाने के अलावा उस चेतनता को रेखांकित करती है जो संविधान के बाहर का है। जब उससे पूछा जाता है कि तुम कौन हो? जबकि वो बताती है कि मैं भारतीय हूँ, मैं एक पत्रकार हूँ। तब वो बताती है कि "मैं दलित हूँ। दलित का मतलब शायद वह भूल चुका होगा। दलित शब्द भर नहीं है। यह एक साहस का नाम है। एक कला का नाम है।"59

रजत रानी मीनू की कहानियां यथार्थवादी होती हैं। वह घटनाओं का उसी रूप में चित्रण करती हैं, जिस रूप में वे घटती हैं। वह उनको अपने अनुकूल ढालने का प्रयास नहीं करतीं। हालांकि यह नहीं कहा जा सकता कि समाज में आदर्श नहीं हैं, पर मीनू जी की दृष्टि वहां जाती है, जहां समाज ठहर-सा गया है और जो उनकी संवेदना को उद्वेलित करता है।

विचार-विमर्श स्तंभ :

समाज में सार्थक मुद्दों पर काम कर रहे सामाजिक कार्यकर्ता और हाल में प्रकाशित अपनी आत्मकथा से चर्चा में आए भंवर मेघवंशी का जिक्र करना यहां जरूरी हो जाता है। राजस्थान में दलित आंदोलन पर एक आलेख में वह बहुत जरूरी बात लिखते हैं कि "सन्

2000 के बाद कई प्रकार की गतिविधियां हुई, पश्चिमी राजस्थान में छुआछूत व भेदभाव को लेकर उन्नति नामक संस्था ने एक व्यवस्थित अध्ययन किया, इसी प्रकार से एक्शन एड नामक फंडिंग एजेंसी ने अनटचबिलिटी इन इंडिया नामक व्यापक शोध किया, जिससे जाहिर हुआ कि राजस्थान में बहुत सारे रूपों में अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न व भेदभाव व शोषण मौजूद है। मसलन सार्वजनिक स्थानों पर पानी नहीं लेने देना, मंदिरों में नहीं घुसने देना, हेयर कट नहीं करना, दूल्हा-दुल्हनों को घोड़ी पर नहीं बैठने देना, अच्छे कपड़े और आभूषण नहीं पहनने देना, साइकिल पर बैठकर गैरदलित रिहाइशों से नहीं निकलने देना, यहां तक कि अपने बच्चों के सुंदर नाम नहीं रखने देना जैसे कई तौर-तरीके सामाजिक जीवन का हिस्सा बने हुए थे और आज भी है। अब उत्पीड़न और सघन हो गया है, वह अपने क्रूरतम स्वरूप में दिख रहा है।"60

अंततः हम कह सकते है कि दलित विमर्श आज के युग का एक ज्वलंत मुद्दा है। भारतीय साहित्य में इसकी मुखर अभिव्यक्ति हो रही है। दलित साहित्य को लेकर कई लेखक संगठन बन चुके हैं और आज यह एक आंदोलन का रूप लेता जा रहा है। स्वाभाविक रूप से साहित्य, समाज और राजनीति पर इसका व्यापक असर पड़ रहा है। दलित साहित्यकार भाषा में चमत्कार दिखाने के लिए नहीं लिखता न ही किसी को खुश करने के लिए बल्कि वह लिखता है अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए। पाठक इसलिए उससे जुड़ भी जाता है क्योंकि उसे दलित साहित्य की संवेदना झूठी नहीं लगती है। उसमें छुपे सत्य को वह महसूस करता है और उसे आत्मसात भी करता है।

हंस और मुसलमान के बदलते आयाम

पृष्ठभूमि :

परिवर्तन प्रकृति और जीवन का साश्वत नियम है। मुस्लिम समाज (मुस्लिम महिलाओं के जीवन) में भी यह परिवर्तन अपने परिवेशगत दशाओं के अनुसार होता है परिवर्तन तेज हो या धीमा पर परिवर्तन तो परिवर्तन है। संस्कृति भी अपरिवर्तनशील नही है क्योंकि संस्कृति स्वयं गतिशील है, इसलिए स्त्री या पुरुष किसी का जीवन भी गतिहीन नहीं हो सकता।

इस अध्याय के अंतर्गत मुस्लिम समाज के सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओं का उद्‌घाटन करना ही नहीं बल्कि इसके माध्यम से क्या कुछ नया हो सकता है उस पर भी बल देना आवश्यक लगता है।

आज इस्लाम संस्कृति एक संक्रमण के दौर से गुजर रही हैं और यह परिवर्तन संस्करण एवं स्वांगीकरण के रूप में दिखाई दे रहा है यह संरचनात्मक परिवर्तन सामाजिक अंतःक्रियाओं का परिणाम है जिसमें दबाव भी अनुभव किये जाते हैं। वर्तमान में मुस्लिम समाज की महिलाएं शिक्षित होकर समाज में तथा लोगों के संपर्क में आ रही है। वे सरकारी, गैर सरकारी संवैधानिक निकाय, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में कार्य कर रही है इस अंतःक्रिया से महिलाओं के जीवन में परिवर्तन हो रहे हैं।

मुस्लिम महिलाओं में पारिवारिक, कौमी तथा सामाजिक संस्थागत, संरचनात्मक परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। मुस्लिम महिलाओं ने पढ़ना-लिखना प्रारंभ कर दिया है यद्यपि शिक्षा की गति बहुत धीमी है, तथापि महिलाओं ने शिक्षा के महत्त्व को अनुभव किया है और कुछ महिलाओं ने शिक्षा के महत्त्व का अनुभव किया लेकिन ऐसी महिलाओं की संख्या उत्साहपूर्ण नहीं हैं।

भारतीय परिवेश में स्त्री शिक्षा और उनके विकास को लेकर बात की जाए तो नवजागरण में इसके बीज देखने को मिलते हैं। अधिकांशतः मुस्लिम पुरुष इस्लाम की दुहाई देकर अपने घर की महिलाओं को दबाते है। अपनी रूढ़ मानसिकता के कारण स्त्री

के पक्ष या उसके विकास, स्वतंत्रता, शिक्षा आदि के बारे में सोचने को तैयार नहीं हैं, जबकि इस्लाम में सभी को विकास का तथा शिक्षा के लिए लिंग, आयु और स्थान किसी भी तरह का भेद नहीं किया गया है।

भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य – 2003

राजेंद्र यादव जी द्वारा संपादित 'हंस' का विशेषांक "भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य- 2003" श्री असगर वजाहत के अतिथि संपादकीय में प्रकाशित हुआ। हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ कि एक विशेषांक के माध्यम से भारतीय मुस्लिम अल्पसंख्यक के मन से लेकर उसके सामाजिक रिश्तों, धार्मिक विश्वासों, आस्थाओं और सामाजिक परिवर्तन की शक्तियों पर विचार-विमर्श हुआ। राजेंद्र जी ने मुस्लिम समाज के नए लेखकों को लिखने के लिए प्रेरित किया। नए लेखक स्वातंत्र्योत्तर कालीन समस्याओं को लेकर कुछ लिखना चाहते थे और समाज में स्थित व्यवस्था को शब्दों में बांधना चाहते थे।

इस विशेषांक में प्रकाशित अधिकतम रचनाएं मुस्लिम लेखकों द्वारा लिखी गयी है। मेरी-तेरी उसकी बात, अतिथि संपादक की कलम से, मुस्लिम समाज : विचार और जीवन, कविताएं, नज़्म, ग़ज़लें, कथा जगत की बागी मुस्लिम औरतें आदि उपशीर्षक मुस्लिम अल्पसंख्यक विमर्श का परिचय देते हैं। मुस्लिम अल्पसंख्यक विमर्श को 'हंस' के माध्यम से राजेंद्र जी ने साहसिक और सार्थक ढंग से उजागर किया और साथ ही पुनरूत्थानवादियों को दो टूक जवाब भी दे दिया। 'हंस' ने अपनी रचनाओं द्वारा समाज को मानसिक रूप से जीवित रखने का प्रयास भी किया है और अपनी एक विचारधारा भी बनाई है।

संपादकीय स्तंभ 'मेरी-तेरी उसकी बात' में इस विशेषांक के बारे में बताया है कि "इस विशेषांक की एक पृष्ठभूमि है। सितंबर 2002 के 'हंस' में मैंने संपादकीय लिखा, 'जो तुम भी हो और मैं भी हूं' यह भारतीय मुसलमानों को लेकर बनी आम धारणाओं को आधार बनाकर लिखा गया था। इस संपादकीय की जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई। बीसियों हिंदी-उर्दू के पत्रों में इसे उद्‌धृत किया गया। इस पर गोष्ठियां-सेमिनार हुए - यहां तक कि इसे केंद्र बनाकर सार्वजनिक सभाएं की गई।"61

अतिथि संपादक कथाकार असग़र वज़ाहत ने बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों के बीच अविश्वास, घृणा, द्वेष और हिंसा के कारणों को खोजने का प्रयास किया है। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान ब्रिटिश शासन से मुक्त होने की लड़ाई में हिन्दू व मुसलमान अपवादों को छोड़कर एक साथ थे। लोकतांत्रिक प्रक्रिया में जाति और धर्म के समीकरण

समाहित होते चले गए, जिससे साम्प्रदायिक सोच को आधार मिलता गया। सत्ता प्राप्त करने का एक सरल नुस्खा मिल गया।

मुस्लिम विरोध या मुसलमानों के प्रति घृणा का एक कारण हिन्दू और मुसलमान में संवादहीनता या एक-दूसरे को न समझना भी है। कई शताब्दियों से मुसलमान इस देश में रह रहे हैं फिर भी उनके और हिंदुओं के बीच अविश्वास तथा एक-दूसरे पर शक करने या एक-दूसरे के बारे में फैलाए गए भ्रम और आरोपों ने हमारी सोच को बड़ी हद तक जड़ बना दिया है। अनपढ़ या कम पढ़े-लिखे लोगों में ही नहीं बल्कि पढ़े-लिखे और बुद्धिजीवियों तक में भ्रांतियां हैं। असग़र लिखते है कि "भारतीय मुसलमानों को विश्व मुस्लिम बिरादरी का अभिन्न अंग मान लिया जाता है और पूरे संसार में मुसलमान जो कुछ कर रहे हैं, उसे भारतीय मुसलमानों का स्वभाव या जातिगत विशेषता बताया जाता है। जबकि सच्चाई यह है कि भारतीय मुसलमान विशुद्ध रूप से भारतीय है और वे भावुकता वश चाहे अरब या ईरान से लगाव रखते हों, पर यथार्थ यह है कि वे भारत के अलावा न कहीं जा सकते हैं और न रह सकते हैं और न कहीं रहना पसंद आ सकता है।"62 दोनों धर्मों के बीच जो अंतर है उसके कारणों को समझने के लिए गंभीरता से वैज्ञानिक शोध की आवश्यकता है।

असग़र वजाहत जी ने अपने संपादकीय में मुसलमानों के पिछड़ेपन का कारण अशिक्षा और बेरोजगारी बताया है। इस अभाव को खत्म कर देश व समाज के विकास में योगदान देने का सुझाव भी दिया। हंस के इस विशेषांक का उद्देश्य न केवल मुस्लिम समाज की गहरी पड़ताल करना है बल्कि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक समुदायों के बीच संवाद की स्थिति भी पैदा करना है।

समस्याएं और चिंताएं स्तंभ :

राजेंद्र जी द्वारा संपादित अगस्त 2003 के इस विशेषांक में मुस्लिम पीड़ितों और शोषितों के प्रति एक सहज स्वाभाविक चिंता की परंपरा अपनायी है। इसलिए यह जुझारूपन की परंपरा भी है। इसमें समझौते और अवसरवाद के लिए जरा भी गुंजाइश

नहीं हैं। 'हंस' की भूमिका नये जीवन मूल्यों के निर्माण में उनके योगदान, उच्चस्तरीय रचनात्मक हस्तक्षेप, उसका आंदोलनकारी तेवर और आज के जमाने की मांगों को उजागर करती है।

इरफान हबीब ने 'भारतीय मुसलमानों की समस्याओं तक एक लोकतांत्रिक पहुंच' लेख के माध्यम से ये समझने का प्रयास किये है कि राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय, गरीबी रेखा से नीचे की आबादी, साक्षरता दर, बिजली का उपयोग, वितरित जल तक परिवारों की पहुंच व सार्वजनिक वितरण प्रणाली तक परिवारों की पहुंच आदि में मुसलमान सभी मामलों में हिंदुओं से काफ़ी पीछे हैं। इरफान हबीब का ये भी कहना है कि मुसलमान आर्थिक रूप से कमजोर अल्पसंख्यक है। मुसलमानों को अन्य सामाजिक समुहों की तुलना में राज्य का कम ध्यान प्राप्त होता है। मुसलमानों की सुरक्षा और समृद्धि तथा साम्प्रदायिकता की सामान्य समस्याओं को हल करने के कई उपाय बिंदुवार सुझाएं है। जैसे मुसलमानों की सुरक्षा के लिए राज्य द्वारा सकारात्मक पहल, रोजगार से सम्बंधित सकारात्मक नीति, सार्वजनिक वितरण प्रणाली में पर्याप्त भागीदारी, मुस्लिम महिलाओं के अधिकारों विशेष रूप से विवाह में समानता, आधुनिक शिक्षा पर मुसलमानों को समान अधिकार, जिससे मुस्लिम हितों की न्यायसंगत रक्षा हो सके।

जोया हसन का लेख 'मुस्लिम समाज में महिलाओं की बदहाली का कारण धार्मिक नहीं, आर्थिक' में मुस्लिम समाज की महिलाओं की स्थिति की तुलनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत की है। उन्होंने कहा कि मुस्लिम महिलाओं की स्थिति पर बात हमेशा इस्लाम के नजरिए से की जाती है यह नजरिया ही गलत है। जबकि दूसरे धर्म की महिलाओं की स्थिति पर बात करते समय धर्म केंद्र में नहीं आता है। वहीं मुस्लिम महिलाओं की स्थिति की बात होती है तो बीच में धर्म आ जाता है। हिन्दू धर्म की महिलाओं के मुकाबले मुस्लिम महिलाओं की स्थिति कमजोर है। उन्होंने ने कि मुस्लिम महिलाओं की स्थिति पर विचार सामाजिक और आर्थिक पहलुओं पर की जानी चाहिए। वे लिखती है कि "मुस्लिम औरत का हिंदुस्तान में नहीं पढ़ने का मूल कारण गरीबी है। उनकी स्थिति अनुसूचित जाति की तरह है। जिस वजह से अनुसूचित जाति की औरतें नहीं पढ़ पाती हैं, उसी वजह से मुस्लिम औरत भी

नहीं पढ़ पाती। धर्म और पर्दा उतना बड़ा कारण नहीं है। सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को नजरअंदाज कर मुस्लिम औरत की स्थिति को ठीक से नहीं समझा जा सकता।"63 वर्तमान समय में महिलाएं जागरूक हो रही हैं तथा अपने अधिकारों की मांग करने लगी हैं। उन्होंने शिक्षा के महत्व को भी समझना शुरू कर दिया है। 'तीन तलाक' का कानून द्वारा समाप्त होने से भी उनकी स्थिति में सुधार होना चाहिए।

'भारतीय मुस्लिम समाज की आंतरिक कमजोरियां और उनका इलाज' में इम्तियाज अहमद मुस्लिम समाज के नेतृत्वकर्ताओं से सवाल करते हैं कि "मुस्लिम राजनीति का मुख्य जोर धार्मिक और सांस्कृतिक मुद्दों पर ही रहता है। इन्हीं मुद्दों को आगे रखकर मुस्लिम राजनैतिक नेतृत्व सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से बंटे मुस्लिम समाज को एकजुट और एक जैसा बनाता रहा है, लेकिन क्या ऐसे धार्मिक-सांस्कृतिक मुद्दों से मुस्लिम समाज को लाभ हुआ है?"64 यह लेख मुख्य रूप से मुसलमान समुदाय के लोकतंत्रीकरण के संदर्भ में मुस्लिम नेतृत्व की भूमिका की ही जांच-पड़ताल करता है।

नेतृत्व और संगठन स्तंभ :

'धार्मिक नेतृत्व का राजनीतिक नेतृत्व में परिवर्तन खतरनाक है' में अहसान ज़ाफरी ने धर्म और राजनीति कैसे एक-दूसरे जुड़े हुए हैं पर विचार प्रस्तुत किए हैं। राजनीति धर्म को अपने निहितार्थों के लिए नए-नए प्रयोग कर रही है। इस प्रयोग के तहत धार्मिक मंच से किसी राजनीतिक विचारधारा का समर्थन और दूसरे विचारधारा का विरोध जनता को भ्रमित करना और भावुकता को बढ़ना आम बात है। धार्मिक भावुकता को राजनीतिक भावुकता में प्रक्षेपित करके स्थिति को खतरनाक बना दिया है। इस लेख में विभाजन से लेकर आज तक धार्मिक भावुकता का किस प्रकार से इस्तेमाल किया गया है इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

अस्तित्व की होड़ स्तंभ :

'भारतीय मुसलमान किधर?' में रफ़ीक़ ज़कारिया ने मुसलमानों के अस्तित्व को लेकर बात की है। अखंड भारत में मुस्लिम एक संयुक्त एवं दृढ़ सम्प्रदाय थे और हमारे बीच संपूर्ण देश में हर प्रकार से परंपरागत संबंध थे। ब्रिटिश भारत में हम ग्यारह में से पांच राज्यों में बहुसंख्यक थे, जिनकी सरकारें हमारे हाथ में थी और जो समूची जनसंख्या का लगभग एक तिहाई था। केंद्र में हमारा निर्णायक रोल था। यहां तक कि रजवाड़ो में से भी कुछ के शासन की बागडोर हमारे हाथ में थी। विभाजन ने हमसे यह हम सब कुछ छीन लिया, हमारी एकता की धज्जियां उड़ गई। अब हम तीन भागों में विभाजित हैं।

1. पाकिस्तानी मुसलमान
2. भारतीय मुसलमान
3. बांग्लादेशी मुसलमान

जिनके बीच कोई संबंध नहीं है और अगर है भी तो निहायत ही बारीक। आज मुसलमानों की दशा उससे भी बदतर है, जो उन्होंने विभाजन के समय झेली। हर मैदान, हर क्षेत्र और हर सेक्टर में, चाहे वह राजनैतिक हो, शैक्षिक हो, सामाजिक हो या आर्थिक, वह हर जगह सिमटते चले गए हैं और आज इनकी दशा एक मजदूर की सी है।

रफ़ीक़ जकारिया लिखते है कि "ऐसी दशा में भारतीय मुसलमानों को क्या करना चाहिए? मोर्चाबंदी से मुसलमानों को कोई लाभ नहीं होने वाला। पचपन वर्षों के कठोर तजुर्बे से हमने जो कुछ सीखा है, उसके अनुसार एक ही रास्ता है, समस्याओं के समाधान के लिए उन्हें अपनी व्यवहारिक दृष्टि में परिवर्तन लाना होगा, जो हमें लगातार परेशान करती रही है। हिंदुओं से विवाद पर जोर अब बेमानी हो चुका है। इससे विरोध में अधिक इजाफा ही होगा। मुसलमानों को अपना अलहदगी पसंदाना रवैया छोड़कर राष्ट्रीय केंद्रीय धारा का अटूट अंग बनना होगा।"65 वर्तमान समय की भी यही मांग हैं। इसी में सबकी भलाई है।

मुसलमानों को अपनी पहचान समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन इन्हें हिंदुओं के साथ आवश्यक स्तर पर खुले दिल से सहयोग करना होगा, ताकि मिश्रित राष्ट्रीयता परवान चढ़ सके, जो हमारे गौरव का प्रतीक रही है।

मुसलमानों की ऐसी दशा पर डिप्टी नजीर अहमद की एक याद आ रही है, जिसमें उन्होंने मुसलमानों को संबोधित किया है, जब उनको कामोबेश आज जैसी स्थिति का ही सामना था -

"कुछ न पूछो आज हम लेक्चर में क्या कहने को हैं।
क़ौम को खुद क़ौम के मुंह पर बुरा कहने को हैं।
मुद्दतों हम उनको चुपके-चुपके समझाया किए
अब जो कुछ कहने को है, सो बरमाला कहने को हैं।"66

'भारत में मुसलमानों का भविष्य' में सैयद शहाबुद्दीन लिखते है कि "1947 से भारतीय मुसलमान एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के नागरिक रहे हैं। धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था चाहे कितनी ही दोषपूर्ण हो, लोकतांत्रिक व्यवस्था चाहे जितनी भी गैरप्रतिनिधिक हो, यहां के मुसलमानों को जो खास सहूलियतें हासिल हैं, वे बहुत से मुसलमानों, यहां तक कि इस्लामी राष्ट्रों के मुसलमानों को भी हासिल नहीं है। जैसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, संगठन और राजनैतिक प्रक्रिया में हिस्सेदारी की स्वतंत्रता। ऐतिहासिक कारणों से उन्हें संप्रदायिक पूर्वाग्रहों का सामना करना पड़ता है, जो तनाव को जन्म देता है और कभी-कभी हिंसा में विस्फोट हो जाता है और यह सच है कि मुसलमानों ने जिंदगी, संपत्ति और सम्मान की क्षति झेली है। कुछ भयानक घटनाओं ने आम लोगों के मस्तिष्क पर बहुत गहरे घाव छोड़े हैं, पर मुसलमान अस्तित्व में बने रहें और बढ़ते रहे। कुल मिलाकर यह समुदाय आजादी और शांति के साथ जीता रहा, हालांकि इन्हें पूरा न्याय और बराबरी नहीं मिली।"67

कथा जगत की बागी मुस्लिम औरतें स्तंभ :

'हंस' का भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य विशेषांक निकालने की योजना बनी, तब लेखन की सतह पर बगावत करने वाली मुस्लिम महिलाओं की तलाश शुरू हुई। परिणाम यह निकला कि कथा-जगत की बागी मुस्लिम औरतें स्तंभ को दो भागों में बाटना पड़ा- पहला आत्मकथ्य और दूसरा कहानियां।

'मुसलमान औरत' नाम आते ही घर की चारदीवारी में बंद या कैद, पर्दे में रहने वाली एक 'खातून' का चेहरा उभरता है। अब से कुछ साल पहले तक मुसलमान औरतों का मिला-जुला यही चेहरा ज़ेहन में महफूज था। घर में मोटे-मोटे पर्दों के पीछे जीवन काट देने वाली या घर से बाहर खतरनाक 'बुर्कों' में ऊपर से लेकर नीचे तक खुद को छुपाए हुए। समय के साथ काले-काले बुर्कों के रंग भी बदल गए, लेकिन कितनी बदली मुस्लिम औरत या बिल्कुल ही नहीं बदलीं। क़ायदे से देखें, तो अब भी छोटे-छोटे शहरों की औरतें बुर्क़ा-संस्कृति में एक न खत्म होने वाली घुटन का शिकार हैं, लेकिन घुटन से बग़ावत भी जन्म लेती है और मुसलमान औरतों के बग़ावत की लम्बी दास्तान रही है।

आत्मकथ्य स्तंभ :

तहमीना दुर्रानी की 'मेरे आका', किश्वर नाहीद की 'पहला सज्दा', तस्लीमा नसरीन की 'मेरे बचपन के दिन' आत्मकथ्य प्रस्तुत हैं।

'मेरे आका' में तहमीना दुर्रानी ने अपनी बेबस जिंदगी की कहानी बयां की हैं। शादीशुदा आदमी से शादी करने के बावजूद लेखिका की बहन आदिला से उसका अफेयर और उससे शादी करने के लिए फिर से तहलीमा से तलाक मांगना, मर्दाना समाज और उस पर अत्याचार एक जरूरी धार्मिक कर्मकांड मानने वाले आदमी और उनके धर्म पर उंगली उठाती हैं।

लेखिका अपनी ज़िंदगी की बेबसी कुछ इस तरह बताती है कि "मुझे साफ लग था कि मैं सांप के गड्ढ़े में गिर रही थी। मेरे दिमाग में मेरी अपमान भरी और बेबस ज़िंदगी

की तस्वीरें उमड़ रही थी। इस आदमी से शादी के इतने साल बीतते-बीतते मेरी हिम्मत तार-तार हो चुकी थी। मैं पलंग पर गिर गई और बेतहाशा चिल्लाने लगी। अपनी इस उन्मादी निराशा के बीच भी मैं हैरान होकर यही सोच रही थी कि मुझे इस मुकाम तक पहुंचने में इतना वक्त क्यों लगा?"68

लेखिका अपने पीड़ा के हालात के बारे में बताती है कि "ये दर्द मेरी बेहूदा ज़िंदगी की संचित पीड़ा में घुल गए और मैं पूरे तौर पर टूट गई। भयंकर दर्द के मारे लगातार चिल्लाए जा रही थी मेरा उन्माद इतना भयंकर हो गया था कि प्रसव की शारीरिक पीड़ा ने मेरी ज़िंदगी के तमाम दर्दों को मुक्त कर दिया। दर्द चरम पर पहुंच जाने की हालत में भी मेरे दिमाग में यह बात साफ थी कि मुझे मेरे दिल और दिमाग के इस सुप्त संकट की तरफ ध्यान खींचे बगैर अपनी भावनाओं को व्यक्त कर देने का दूसरा कोई मौका शायद अब कभी नहीं मिलेगा।"69 लेखिका की यह दशा अत्यंत दुःखद लगता है।

लेखिका जब मुस्तफा का विरोध करती है। तो देखती है कि मुस्तफा न केवल उलझन में पड़ गया बल्कि डर भी गया। उसकी उपेक्षा करके उसे यातना पहुँचाई। वे लिखती हैं कि "पहले मेरे आंसू, मेरी दलीलें, मेरी गिड़गिड़ाहटें उसकी पथभ्रष्ट मर्दानगी के कारनामों की वाहवाही सी हुआ करती थीं। अब मेरा शांत रहना उसे परेशान कर रहा था, मेरी खामोशी ने उसे कमजोर कर दिया था।"70

'पहला सज्दा' लेखिका किश्वर नाहीद ने मुस्लिम समाज की तहजीब, अंधविश्वास और कट्टरपंथी माहौल को रेखांकित किया है जो बार-बार बगावत का कारण बनता है।

'मेरे बचपन के दिन' में तस्लीमा नसरीन भी अपने बचपन की स्मृतियों को समेटा है। अपने पिता द्वारा प्रताड़ित अपनी माँ की उपेक्षा कर गोरी साली से मजाक करना, अपने पास बैठने की जिद करना लेखिका की माँ को बहुत दुःख पहुँचता था। तीसरी बार भी बेटी को जन्म देना, माँ को अधिक दुखदायी साबित होता है।

लेखिका के मामा द्वारा किया गया बर्बरतापूर्ण कार्य भी लेखिका के जीवन का एक दुःखद क्षण था। वर्षों से भुगत रही ज़िल्लत, सहानुभूति, अपनी कमजोरियों से बाहर निकलने की छटपटाहट इन आत्मकथांश का प्रमुख सूत्र हैं।

कहानी स्तंभ :

'मजहबी फ़रीजों' से जकड़ी, सौमो-सलात की पाबंद औरत ने यकबारगी ही बगावत या जेहाद के बाजू फैलाएं और खुली आजाद फ़िजा में समुद्री पक्षी की तरह उड़ती चली गई। लेखन के शुरुआती सफ़र में ही इन मुस्लिम महिलाओं ने जैसे मर्दों की वर्षों पुरानी हुक्मरानी के तौक़ को अपने गले से उतार फेंका था। यह महज इत्तेफाक नहीं है कि मुस्लिम महिलाओं ने जब कलम संभाली तो अपनी कलम से तलवार का काम किया। इस तलवार की ज़द पर पुरुषों का, अब तक का समाज था। वर्षो की गुलामी थी। भेदभाव और कुंठा से जन्मा, भयानक पीड़ा देने वाला एहसास था। इस स्तंभ में शामिल कहानियां इस बात की गवाही देती हैं।

'सुल्ताना का सपना' कहानी लेखिका रुकैया सख़ावत हुसैन, 1905 में 'दि इंडियन्स लेडीज़ मैगजीन' में प्रकाशित हुई। इस कहानी में पासा ही पलट गया है। जहाँ कटघरे में औरत थी, रुकैया ने वहाँ मर्दों को बिठा दिया, यानी औरत की हुकूमत। 'सुल्ताना का सपना' कहानी में मर्द कहीं नहीं हैं। मर्दों को जनाना में डाल दी है। वहीं दूसरी तरफ चारदीवारी में बंद औरत, घुटन और बेबसी की शिकार आखिर वह कैसा समाज था, जहां औरत बार-बार 'सुल्ताना' जैसा सपना देखने को मजबूर हो रही थीं।

औरत पुरुष से बगावत भी करती है तो सपने में, रूकैया सख़ावत हुसैन से अब तक के 118 वर्षों के सफर में आज भी औरत वहीं खड़ी है। लेकिन अब थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ है औरतों की स्थिति में।

पाकिस्तान की लेखिका इस्मत चुगताई की चर्चित तथा विवादित कहानी 'लिहाफ', जिसे घरों में पढ़ने पर भी पाबंदी थीं। यह कहानी दबी हुई यौन इच्छाओं के बारे में और खुद की जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरे के शरीर का शोषण किए जाने के बारे में थी। इस कहानी को जिसने भी पढ़ा उसका का मुरीद हो गया। कहानी के संवाद को चुगताई ने बखूबी लिखा है।

'इस्मत चुगताई' के लेखन में इतनी शक्ति और सामर्थ्य था कि वह पितृसत्ता द्वारा खड़ी की गई दीवारों को भेदकर महिला इच्छाओं और यौनिकता जैसे अब तक के अछूते

रहे विषय पर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट करने में सक्षम थी। उनके लेखन में नारी देह का वर्णन किसी पुरुष की वासना भरी नजर के लिए किसी वस्तु के रूप में चित्रित ना होकर एक स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में वर्णित है। हालांकि उनके लेखन की भरपूर आलोचना हुई, लेकिन उनकी लिखित साहित्य ने इस 'विवादास्पद' विषय पर से पर्दा हटाने का काम किया, जिसके कारण अब तक अदृश्य रहे इस पहलू पर अब खुलकर विचार-विमर्श शुरू हो सका। "लिहाफ़ फिर उभरना शुरू हुआ। मैंने बहुतेरा चाहा कि चुपकी पड़ी रहूं, मगर उस लिहॉफ नेतो ऐसी अजीब-अजीब शक्लें बनानी शुरू कीं, कि मैं लरज़ गई। मालूम होता था, गों-गों करके कोई बड़ा-सा मेंढक फूल रहा है और अब उछल कर मेरे ऊपर आया।"71

ज़ाहिदा हिना की कहानी 'पानियों में सराब' में औरत की मर्यादाओं को उसका मन तोड़ सकता हैं लेकिन तन के साथ ही उसके अस्तित्व की पहचान है, उसे वह आजाद नहीं छोड़ सकती। पति के मित्र की चाहत वह पाना तो चाहती है लेकिन शादीशुदा प्रेमी को भी डर है कि यह बात मित्र को पता न चले। क्योंकि वह दोस्ती अच्छे ढंग से निभाना चाहता हैं। यह बात नायिका भी अछि तरह जानती हैं। "और अब मैं दो मर्दों के बीच ज़िन्दगी गुजारती हूँ। अफज़र, जिसकी ज़मीन अपनी नहीं, जिसके घर में सेंध लग चुकी है और युसूफ, जो अपनी ज़मीन को दूसरे के अधिकार से आज़ाद कराते हुए डरता है, जिसकी ज़मीन का लगान किसी दूसरे के खज़ाने में जमा होता है और उन दोनों के दर्मियान मैं हूँ...।"72

वाजदा तबस्सुम की कहानी 'उतरन' उनकी सर्वाधिक चर्चित कहानी है। इस कहानी का कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। मीरा नायर की चर्चित फिल्म कामसूत्र की मूल प्रेरणा भी यही कहानी है। धर्म का कारोबार करने वाले मुल्लाओं की नजर में औरत अब भी वही है, चारदिवारी में बन्द रखने वाली चीज, मर्द की जूठन, इसी वास्तविकता को 'तबस्सुम' ने 'उतरन' में बताया है। अनछूए किस्से, जो उनकी वासना, लालसा के पोषक थे, बीवी सिर्फ घर की इज्जत थी, अर्थात नाममात्र की बीवी, मर्द अपनी मर्दानगी का कोई भी कारनामा किसी कनीज़ दाई, आया, मुलाजिमा के साथ कर सकता हैं। 'उतरन' की

कनीज को ही देखिए - "विदाई के दूसरे दिन ड्योढ़ी के चलन के अनुसार जब शहजादी पाशा अपनी उतरन, अपनी खिलाई की बिटिया को देने गई, तो चमकी ने मुस्कराकर कहा-

"पाशा...मैं...मैं..."

"मैं ज़िन्दगी-भर आपकी उतरन इस्तेमाल करती आई, लेकिन अब आप भी..."

और वह दीवानों की तरह हँसने लगी,

"मेरी इस्तेमाल करी हुई चीज़ अब ज़िन्दगी-भर आप भी..."73

नूरुलहूदा शाह की कहानी 'ज़िंदगी का ज़हर' में औरतों के जज्बातों एवं मर्द के बेवफ़ाई का नंगा चित्र खिंचा हैं। "तन्हाई का डसता अहसास, ज़िन्दगी में बिखरी हुई छोटी-छोटी असंतुष्ट आरजुओं का जहर, रग-रग में बसी हुई तन्हाई की घुटन। आँखों में चुभती हुई पीड़ा का अहसास।"74 फिरदौस को सिगरेट सुलगाने को मजबूर करता हैं। अहमद का ख़त फिरदौस के ज़िन्दगी के मायने ही बदल देता हैं- "मैं बड़ों के फैसलों से फिरदौस को आजाद करता हूँ, क्योंकि मैंने यहाँ पर शादी कर ली है।"75 यही बेवफ़ाई उसे ले डूबती है।

महिला लेखन के इंकलाबी नामों में से एक 'फ़हमीदा रियाज़' की कहानी 'पर्सनल एकाउंट' औरतों के अधिकार या जागरूकता के बारें में हैं। मर्दों के जुल्मों से घबराकर औरत अपना 'पर्सनल एकाउंट' तक अलग रखना चाहती हैं। यह कहानी औरत की अपनी शिनाख्त हैं, जिसके लिए वो युद्ध तेज कर चुकी हैं- "मेरे प्यारे वतन पाकिस्तान के मर्द कैसे हैं। ये सब अपनी पत्नियों की तनख्वाहें अपनी हथेलियों पर रखवा लेते हैं या घर की जन्नत नामी दोज़ख (नरक) में झोंक देते हैं। अपनी ख़ुशी से वह अपनी कमाई का एक धेला भी क्यों खर्च नहीं कर सकती?"76 अपने अस्तित्व को वह महसूस करने लगी हैं।

सैयद अफरा बुखारी की कहानी 'निजात' औरत की उसी मजबूरी को रेखांकित करती हैं, जो अपने पति के सामने खुद को गुलाम, बेबस, लाचार बनाएं रखती हैं। "वह उसके अन्दर झांकती और कुढ़ती और सोचती, वह अन्दर क्यों देखती है? बाहर क्यों नहीं

देखतीं? वह वाकई खुबसूरत और मज़बूत था। वह किसी आज्ञापालन पत्नी की तरह उसकी हर इच्छा के सामने झुक जाती और वह हंसा करता।"77

तबस्सुम फ़ातिमा की कहानी 'जुर्म' में औरत अपने वजूद की नफ़रत में जी रही हैं। वे कहती है कि- "औरत...उसे खुद से गहरी नफ़रत का अहसास होता है...ऐसा क्या है? ज़िन्दगी के हर मोड़ पर पवित्रता की दर्द झाड़ते ही चित क्यों हो जाती है औरत...? एकदम से चित औरत हरी हुई। सवारी मर्द ही करता है...मर्द ही जीतता है...औरत चाहे कितनी बड़ी क्यों न हो जाए...लेकिन और की अज़मत कहाँ सो जाती है।"78 औरत अपनी परिधि में इतनी सिकुड़ी-सिमटी क्यों है...? जैसे धुंध के बाद मकड़े का जाल-सा बिछा है और वह इस जाल को तोड़कर बाहर आना चाहती है...

लेखन की सतह पर औरतों की कलम बागी और वहशियाना बन गयी हैं, तो ये भी मर्द समाज की देन हैं। मुस्लिम औरत अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही हैं। वह घुटन, बेबसी, लाचारी, गुलामी भरी ज़िन्दगी से बाहर निकल कर खुले असमान में साँस लेने के लिए छटपटा रही हैं। मुस्लिम समाज की प्रसिद्ध लेखिकाएं अब मर्दाना समाज के शतरंज की चाल को बखुबी समझ रही हैं और बगावत भी कर रही हैं। कुछ कहानियों को छोड़ दिया जाए तो अधिकतर कहानियां इसी फिजा से रूबरू हैं।

समाज में तेजी से आने वाले परिवर्तन ने मर्द के सामने निगाह नीचे रखने वाली और होठ बन्द रखने वाली औरत, अब बगावत पर उतर आयी हैं। मर्दों से, काजी, मौलवी, और उलेमाओं से प्रश्नों की बौछारें कर रही हैं। वह मज़हब का डर भूलकर बागी औरत बनकर कौम के सुधारक और मस्जिद के इमामों से दुआएं करती रही हैं कि आखिर कब तक ये जुल्म ढाए जायेंगें।

इस विशेषांक में 'समस्याएं और और चिंताएं', 'नेतृत्व और संगठन', 'अस्तित्व की होड़' तथा 'कहानियाँ' स्तंभ महत्वपूर्ण हैं। भारतीय मुसलमानों की सामाजिक आचार, विचार और संस्कार आदि पर मुस्लिम रचनाकारों ने अपनी बात रखी है वह अधिक प्रासंगिक लगाती है।

निष्कर्ष :

भारतीय मुस्लिम समाज के बहुआयामी स्वरूप, उनकी संरचना, सरोकारों और समस्याओं पर आधारित देश के सबसे बड़े अल्पसंख्यक समाज की पड़ताल करते हैं ये लेख। मुस्लिम समाज के सामाजिक अचार, विचार और संस्कार आदि पर मुस्लिम रचनाकारों ने अपनी बात रखी है वह अधिक प्रासंगिक लगती है। मुस्लिम समाज के मन से लेकर उनके सामाजिक रिश्तों, धार्मिक विश्वासों, आस्थाओं और अंतर्निहित सामाजिक परिवर्तन की शक्तियों को भी सामने लाते हैं। वास्तव में किसी जटिल समाज को समझने के लिए जिस समग्रता की आवश्यकता है वह इस विशेषांक में है। भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य शीर्षक विशेषांक सही अर्थों में मुस्लिम अल्पसंख्यक समाज का एक्स-रे है।

समसामयिक चेतना और आधुनिक भावबोध इस विशेषांक के रचना परिवेश में निर्मित रचानों में गहराई से उभरा है। मुस्लिम रचनाकारों ने सामाजिक विषमता और राजनीतिक संघर्ष के उद्‌घाटन से सामाजिक चेतना प्रस्तुत किया है। भारतीय मुस्लिम समाज की समस्याएं और चिंताएं पाठकों के सामने रखना इस विशेषांक का प्रमुख उद्देश्य रहा है। भारतीय मुस्लिम समाज की विचारधारा परिवर्तन की ओर झुकाती परिलक्षित होती हैं।

आधुनिक सामाजिक परिवर्तन और मुस्लिम महिलाओं के सामाजिक जीवन में परिवर्तन आ रहा है। मुस्लिम महिलाओं ने पढ़ना-लिखना प्रारंभ कर दिया है लेकिन शिक्षा की गति अभी बहुत धीमी है। कुछ मुस्लिम महिलाएं विकास के पथ पर अग्रसर है।

*****

सन्दर्भ सूची :

1. राजपाल हिंदी शब्दकोश - डॉ हरदेव बाहरी, संस्करण - 2017, पृ.सं.- 751
2. जवाब दो विक्रमादित्य - राजेन्द्र यादव, द्वितीय संस्करण - 2009, पृ.सं.- 29
3. नागफनी- त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका, अंक- 37, अप्रैल-जून- 2021, पृ.सं.- 2
4. वही...पृ.सं.- 2
5. स्त्री : उपेक्षिता – प्रभा खेतान, प्रथम संस्करण -1999, पृ.सं.- 11
6. जवाब दो विक्रमादित्य - राजेन्द्र यादव, द्वितीय संस्करण - 2009, पृ.सं.- 243
7. सम्बोधन (त्रैमासिक), जनवरी-अप्रैल-जुलाई 2005, सं. कमर मेवाड़ी, पृ.सं. 156
8. वही...पृ.सं.- 180
9. सम्बोधन (त्रैमासिक), जनवरी-अप्रैल-जुलाई 2005, सं. कमर मेवाड़ी, पृ.सं.- 160
10. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य : खण्ड -1(विशेषांक), हंस पत्रिका- जनवरी-फरवरी-2000, पृ.सं.- 4-5
11. वही... पृ.सं.- 12
12. वही... पृ.सं.- 23
13. वही... पृ.सं.- 31
14. वही... पृ.सं.- 33
15. वही... पृ.सं.- 36
16. वही... पृ.सं.- 36
17. वही... पृ.सं.- 204
18. वही... पृ.सं.- 206
19. वही... पृ.सं.- 165
20. वही... पृ.सं.- 167-168

21. स्त्री-भूमंडलीकरण : पितृ-सत्ता के नये रूप- मार्च 2001, पृ.सं.- 5
22. वही... पृ.सं.- 5
23. वही... पृ.सं.- 5
24. वही... पृ.सं.- 11
25. वही... पृ.सं.- 14
26. वही... पृ.सं.- 27
27. वही... पृ.सं.- 31-32
28. वही... पृ.सं.- 39
29. वही... पृ.सं.- 50
30. वही... पृ.सं.- 230
31. स्त्री विमर्श : अगला दौर, हंस पत्रिका, नवम्बर 2009, पृ.सं.- 6
32. वही... पृ.सं.- 8
33. वही... पृ.सं.- 11
34. वही... पृ.सं.- 37
35. वही... पृ.सं.- 47
36. वही... पृ.सं.- 76
37. वही... पृ.सं.- 121
38. वही... पृ.सं.- 129
39. वही... पृ.सं.- 134
40. हंस - जनवरी 2001, पृ.सं.- 4
41. हंस सत्ता-विमर्श और दलित- अगस्त 2004, पृ.सं.- 4
42. वही... पृ.सं.- 9
43. वही... पृ.सं.- 9
44. वही... पृ.सं.- 23
45. वही... पृ.सं.- 109

46. वही... पृ.सं.- 114

47. वही... पृ.सं.- 131

48. वही... पृ.सं.- 195

49. वही... पृ.सं.- 194

50. वही... पृ.सं.- 199

51. वही... पृ.सं.- 203

52. हंस का दलित साहित्य (प्रतिरोध।अधिकार।समता) विशेषांक, नवंबर 2019, पृ.सं.- 5

53. वही... पृ.सं.- 10

54. वही... पृ.सं.- 84

55. वही... पृ.सं.- 108

56. वही... पृ.सं. – 124

57. हंस का दलित साहित्य (प्रतिरोध।अधिकार।समता) विशेषांक, दिसंबर 2019, पृ.सं.- 6

58. वही... पृ.सं.- 8

59. वही... पृ.सं.- 16

60. वही... पृ.सं.- 63

61. भारतीय मुसलमान: वर्तमान और भविष्य विशेषांक, अगस्त-2003, पृ.सं.-4

62. वही... पृ.सं.- 6

63. वही... पृ.सं.- 15

64. वही... पृ.सं.- 17

65. वही... पृ.सं.- 78-79

66. वही... पृ.सं. – 80

67. वही... पृ.सं.- 88

68. वही... पृ.सं.- 141

69. वही... पृ सं.- 143-144

70. वही... पृ.सं.- 145

71. वही... पृ.सं.- 178

72. वही... पृ.सं.- 188

73. वही... पृ.सं.- 197

74. वही... पृ.सं.- 217

75. वही... पृ.सं.- 218

76. वही... पृ.सं.- 221-222

77. वही... पृ.सं.- 227

78. वही... पृ.सं.- 254